सूरज पुराण

संपादक
डॉ.शीला मिश्र

आंध्रप्रदेश गवर्नमेंट ओरियंटल मान्युस्क्रिप्टस
लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च इन्स्टिट्यूट

SURAJ PURAN Edited by Dr. Sheela Misra

सूरज पुराण

मूल लेखक
(अप्राप्य)

संपादक
डॉ.शीला मिश्र

प्रधान संपादक
जयधीर तिरुमल राव
संचालक

आं.प्र. गवर्नमेंट ओरियंटल मैन्यूस्क्रिप्टस लाइब्रेरी
एण्ड रिसर्च इन्स्टिट्यूट
हैदराबाद

SŪRAJ PURĀN

Original Writer not known

Edited By :

Dr. Sheela Misra

Publication No.: 58

First Edition : 2007

No. of copies : 500

Price : Rs. 80/-

© APGOML & RI

Copies can be had from :

Director,

A.P. Govt. O.M.L. & R.I.

Behind O.U. Police Station.

O.U. Campus,

Hyderabad - 500 007.

Phone: 040-27097709

Printed at :

Akruthi Offset Printers,

Hyderabad. Ph: 040-27664525

प्राक्कथन

वर्तमान युग में जो वैज्ञानिक, तकनीकी विकास हो रहा है वह अतीत के विचारों द्वारा प्रभावित है, ठीक उसी तरह जैसे अतीत के विचार वर्तमान के तकनीकी अनुसंधान व वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। भारतीय संस्कृति में लिखित व मौखिक साहित्य दोनों ही अभिन्न अंग है। आज अनेक प्राचीन साहित्य, प्रबंध, नाटक व अन्य विधाएँ लिखित रूप में प्राप्त होते हैं। न केवल साहित्य बल्कि ऐसे अन्य कई ग्रंथ हैं जिनकी सहायता से अस्त्र-शस्त्र के भी निर्माण हो रहे हैं। इस तथ्य को पश्चिम के विचारक भी स्वीकारते हैं। आज पहले से अधिक महत्व प्राचीन ग्रंथों; उनकी पांडुलिपियों को प्राप्त है।

दो-ढाई शताब्दियों से भोज पत्रों में लिखने की प्रथा रुक गई है। इसलिए ये अनिवार्य हो गया है कि इन मूल प्राचीन ग्रंथों को वैज्ञानिक पद्धति से सुरक्षित रखा जाए। इसी उद्देश्य हेतु आंध्र-प्रदेश सरकार ने सन् 1967 में प्राच्य लिखित ग्रंथालय की स्थापना की है जिसमें विविध व्यक्तियों के पास और संस्थाओं से प्राप्त प्राचीन पांडुलिपियों को एकत्रित कर अध्ययन हेतु सुरक्षित रखा गया है। सन् 1969 में इस पुस्तकालय को राष्ट्रीय-केंद्र-पुस्तकालय में मिला दिया गया व सन् 1975 में 'अनुसंधान' शब्द को भी जोड़ दिया गया है जिससे शोध कार्य को भी प्रोत्साहन मिले। अनेक सरकारी क्रिया-प्रक्रिया के पश्चात इस संस्था का नाम 'आंध्र प्रदेश सरकारी-प्राच्य लिखित-ग्रंथालय एवं अनुसंधानालय' स्थिर हुआ; और अब यह एक स्वतंत्र निदेशालय के रूप में कार्य कर रही है।

तेलुगु-पांडुलिपियों को संपादित करने की दिशा में सी.पी.ब्राउन ने बड़ा महत्वपूर्ण काम किया। उन्होंने कई ग्रंथों का संकलन कर.

पुनर्लेखन व संपादित कर मुद्रित व पुस्तकाकार रूप देकर विद्वज्जनों तक पहुँचाया है। केवल तेलुगु पांडुलिपियाँ ही नहीं, आज सोलह भाषाओं में छब्बीस हज़ार से अधिक प्राचीन-पांडुलिपियों को सुरक्षित रखना, उनका संस्करण व संपादन का कार्य यह संस्थान देख रही है।

संस्थान के प्रगति के पथ पर आर्थिक कमी भी बाधा बन जाती है। संस्थान के प्रमुख लक्ष्य, मुद्रण, अनुसंधान आदि में बाधा न पहुँचे इसी उद्देश्य से भारत सरकार ने उनके सांस्कृतिक-शाखा के नेतृत्व में 'नेशनल मिशन फॉर मैन्युस्क्रिप्ट्स' (N.M.M) नामक संस्थान खोली है, जहाँ इन प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों को सुरक्षित रखने के लिए नवीन-पद्धतियाँ खोज निकाली गई हैं। आज इस अनुसंधान केंद्र को N.M.M वाले 'मैन्युस्क्रिप्ट्स-रिसर्च-सेंटर' की मान्यता दे दी है। यह प्रादेशिक इतिहास में पहली बार हुआ कि N.M.M द्वारा आर्थिक-सहायता से फरवरी 2004 तक देश भर के पांडुलिपियों का सर्वे किया गया। इस सस्थान ने सन् 2006 तक प्राप्त विभिन्न भाषाओं के कुल 48 ग्रंथों का मुद्रण व संपादन कर पाठकों तक पहुँचाया है। सन् 2007 में पाँच ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है।

आज देश-विदेश के कई अनुसंधानकर्ता इस ग्रंथालय से आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करने हेतु आ रहे हैं। इनके लिए आवश्यक-सुविधाएँ प्राप्त करवाया जाता है। पिछले वर्ष केंद्र-सरकार का अनुदान प्राप्त हुआ है जिससे कम्प्यूटर, स्केनर की सहायता से डिजिटलैजेशन का कार्य आरंभ हुआ है। इधर ईरान-सरकार की संस्थान नूर-माइक्रो-फिल्म सेंटर, नई-दिल्ली ने यहाँ के छब्बीस हज़ार प्राचीन पांडुलिपियों को लैमिनेट कर डिजिटलैजेशन का कार्य भी कर रहे हैं। यहाँ के ख्यात विद्वान महामहोपाध्याय श्री परवस्तु रंगाचार्य (1822-1900) ने 'लघु शब्दार्थ सर्वस्वम' नामक कोष 'विज्ञान सर्वस्वम' के चार लाख पृष्ठों का डिजिटलैजेशन किया है। इसे जल्द ही वेबसाइट में डाला जाएगा। संस्था अपनी वेबसाइट से विश्व भर के अनुसंधानकर्ता और पंडितों को संस्था में संग्रहीत ग्रंथों की जानकारी देंगे। इन सबके अतिरिक्त अन्य संस्थाओं से आर्थिक सहायता लेकर इसे विकसित बनाने की दिशा में कदम उठाया जा रहा है।

श्रीमती डॉ. शीला मिश्र अपने देश की भाषाओं के प्रति अभिरुचि रखती हैं और उसके अध्ययन के प्रति उनमें सजगता, उत्साह और प्रेम है। वे अपने साहित्य का अध्ययन इसलिए भी करती हैं, क्योंकि वे अपने देश की आत्मा की महानता से परिचित हैं। उनका अध्ययन एकांगी नहीं या उसके गुण-दोषों के परिज्ञान या मूल्यांकन तक ही परिसीमित नहीं-वे तो उसकी समग्रता और पूर्णता तक पहुँचने का प्रयत्न करती हैं। उन्होंने अपनी पीएच.डी. का शोध प्रबंध 'आधुनिक काव्य में पौराणिक संदर्भ' पर लिखा है। तभी 'सूरज पुराण' के संपादन, अनुवाद व टीका लिखने का कार्यभार मैंने इन्हें दिया क्योंकि वेद-पुराण से परिचित होने वाले ही इस प्रकार के प्राचीन साहित्य को गंभीरता से मंथन कर उसके साथ न्याय कर सकते हैं। आशा है प्रस्तुत रचनात्मक कार्य द्वारा साहित्य के अध्ययन को न केवल व्यापक अभिरुचि प्राप्त होगी बल्कि एक नयी दिशा भी मिलेगी।

11.02.2008 ***- जयधीर तिरुमल राव***

हैदराबाद

अनुक्रमणिका

		पृ.सं.
प्राक्कथन		i-iii
जयधीर तिरुमल राव		
प्रस्तावना		i-xliii
डॉ.शीला मिश्र		
वेदों में सूर्य		xliii-lvi
पुराणों में सूर्य		lvii-lxiii
सूरज पुराण-मूल पाठ		
I.	**प्रथम अध्याय**-पंच पुत्र प्राप्ति	01-15
II.	**द्वितीय अध्याय**-कुष्ट काया दान	15-18
III.	**तृतीय अध्याय**-अंग वर्ण की प्राप्ति	18-19
IV.	**चतुर्थ अध्याय**-अंधे को नेत्र प्राप्ति	19-29
V.	**पंचम अध्याय**-विदेश यात्रा का फल	29-30
VI.	**षष्ठ अध्याय**-सूरज पुराण पठन-फल	30-39
VII.	**सप्तम अध्याय**-राजा परीक्षित-कन्या व नारद शाप की कथा	39-45
VIII.	**अष्टम अध्याय**-पंपासुर हलधर विप्र कथा	45-67
IX.	**नवम अध्याय**-दक्षिण दिशा राजरूप महेश्वर कथा	67-69
X.	**दशम अध्याय**-नारद-शाप, अनुग्रह-कथा	69-73
XI.	**एकादश अध्याय**-नारद यज्ञ शोभा वर्णन	73-77
XII.	**द्वादश अध्याय**-दक्षिण-दिशा राजा जयमल विप्र-कथा	77-79
XIII.	**त्रयोदश अध्याय**-कल्कि अवतार	79-96
XIV.	**व्रत महात्म्य**-वर्णन	97-107
उपसंहार		108-113
संदर्भ ग्रंथ सूची		114-114

प्रस्तावना

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आज मनुष्य अपने वर्तमान परिस्थिति से खिन्न, अवसाद ग्रस्त व विक्षिप्त है। वह अनवरत इस परिस्थिति से उबरने का प्रयत्न करता है। प्रयत्न की इस प्रक्रिया में वह कभी कल्पना-लोक की उड़ान भरता है तो कभी ऐसे अदृश्य या देव-चरित्रों की कल्पना करता है जिसे स्मरण कर वह उस जादुई छड़ी या शक्ति की कल्पना करता है जिसे घुमाते ही उसके सारे दुःख सुख में परिणत हो जाए। और इस प्रक्रिया में वह ऐसे अतीत में जाने का प्रयत्न करता है, जो वर्तमान से बहुत दूर काल और समय की सीमा से बाहर है।

मनुष्य परिवर्तनशीलता की मिथ्यता व अनित्यता से ऊबकर उस अपरिवर्तनशीलता या सत्यता के संसार को खोजता है जो मानव काल का आदि-बिंदु था, जहाँ सब कुछ मौलिक, शाश्वत, पवित्र व उदात्त था। इन विशेषताओं से युक्त शक्ति की पूजा मानव-जाति प्राचीन काल से करती हुई शांत-लाभ करती आ रही है। अर्थात् देव कथा पवित्र इतिहास होने के कारण चिरंतन सत्य पर आधृत है। यह उन तथ्यों का इतिहास है जो सृष्टि के आदि-बिंदु पर घटित हुए थे इसलिए सृष्टि रचना के उपरांत मनुष्य-समाज के लिए कर्तव्य की कसौटी बनी हुई है। सृष्टि के आदि में उद्‌भूत देवी-देवताओं के चरित्र-गुण-धर्म का अनुगमन करके मानव स्वयं को वर्तमान की विडंबना से मुक्त कर लेता है।

वैसे तो आज के सभ्य-मानव-समाज देवकथा को एक कपोल-कल्पित कहानी-मात्र मानती है। पर परंपरा में पगे धर्मप्रवण नर-नारियों के लिए यह शाश्वत सत्य का मनोरंजक विकास है। इन देवकथाओं के पात्र-देवताओं के अनुगमन में ही नर-नारी अपना कल्याण समझते हैं। देवकथा हमारे समाज का आंतरिक आधार है।

आज के आधुनिक सभ्यता व जीवन-शैली के कारण देवकथाओं में हमारी आस्था नहीं रह गई है पर इस बात में संदेह नहीं है कि व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन में देवकथा सदैव सक्रिय होती है। इन देवकथाओं का रूप बहुत कुछ बदल तो गया है पर उसका समाज पर

पड़नेवाले प्रभाव में अधिक अंतर नहीं आया है। उदाहरण के लिए आज भी जब घरों का नवनिर्माण होता है या पुत्रोत्पत्ति जैसे शुभ अवसर आते हैं तब हम वर्तमान के दुख, खेद, क्लेष को भूलकर अतीत के उस महाकाल में प्रवेश करते हैं जो इतिहास की परिधि से बाहर होने के कारण शिवमय है और इसलिए सौख्य का अखंड स्रोत है। ये उत्सव हमारे पुराण-देवकथाओं की सीमा से परे हैं पर वर्तमान की निराशा और जीवन का पुनर्निर्माण इनमें भी उसी प्रकार बना हुआ है जैसा कि देवकथाओं में था। अंतर केवल इतना है कि पुराण देवकथा का स्वरूप धार्मिक था जबकि आज की देवकथा बहुत कुछ लौकिक बन गई है।

आज के भौतिक युग में हम पुराने हिंदू नहीं रह गये; इसी प्रकार आज के बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान भी परंपरागत बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान नहीं रह गए। आज तो जीवन का लक्ष्य बदल जाने के कारण सभी धर्मों के अनुयायी मूलतः बदल गये हैं क्योंकि, सच पूछिये तो एक सच्चा वैष्णव वह है जो अपने जीवन-काल में ही विष्णु के गुण धर्म में स्थित हो जाए। एक यथार्थ बौद्ध वह है जो अपने जीवन में बुद्ध का समकालीन बन जाए। एक ईसाई और एक मुसलमान पर भी यही बात लागू होती है। इन धर्मों की अपनी-अपनी देवकथाएँ तभी चरितार्थ होनी संभव है जब कि इनके अनुयायियों में इनकी देवकथाओं के पात्रों के साथ समरसता स्थापित हो जाए। किंतु ऐसा तो होता दिखाई नहीं देता। फिर भी इतना तो है ही कि अपनी पूजा-परिचर्या के समय थोड़ी देर के लिए तो एक वैष्णव वर्तमान से मुक्ति पाकर उस अतीत पर जा पहुँचता है। जबकि स्वयं विष्णु भगवान इस धराधाम पर लीलावान हुए थे। इसी प्रकार क्रिसमस मनाते समय थोड़ी देर के लिए तो एक ईसाई वर्तमान से मुक्ति पाकर अतीत की उस सौख्यदायिनी घड़ी पर जा टिकते हैं जब कि ईसा इस धराधाम पर उतरे थे और उन्होंने मेरी के पुत्ररूप में अपनी लीला का अनावरण किया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भले ही आज के युग में देवकथा का स्वरूप बदल गया है पर सदा की भाँति मानव के क्लिष्ट जीवन को वे सरस एवं पल्लवित बनाती ही रहती है।

उक्त विचारधारा से व्यक्त होता है कि देवकथा का परिणाम हमारे जीवन में प्रकट होता है:अनुसरणीय जीवन-प्रणाली के उदय में,

जीवन के पुनः पुनः नवीकरण में, और धर्मप्रतीपी वर्तमान से आज़ाद होकर आदि महाकाल के दर्शन में।

"किसी भी देश या समाज के चरित्र एवं शिक्षा-पद्धति का मानदंड उसकी अपनी देवकथाएँ होती हैं। समाज के अपने देवी-देवताओं की चरितावलि ही उस समाज के चरित का आदर्श बना करती है; और इन देवी-देवताओं के पदचिह्नों पर चलनेवाले शूरों की चरित-संतति ही उस समाज के युवकों की प्रशंसा का पात्र बनती है। शिक्षा-पद्धति की जो कड़ियाँ समाज के नर-नारियों को उस समाज के आदि देवों तक पहुँचा दें, वे ही उस समाज के लिए क्षेम का प्रसव बनती हैं। इसीलिए किसी समाज की शिक्षा-प्रणाली में उस समाज के शूरवीरों की जीवनियों का जितना महत्व है उतना महत्व अन्य किसी भी पाठ का नहीं होता। कारण इसका स्पष्ट है: समाज के ये करिष्ठ नरनारी अपने जीवन को परंपरीण आदर्श में खचित करके समाज के सम्मुख फिर से उस आदियुग को प्रदर्शित करते हैं जबकि एक मानव मानव न होकर एक देवता था-फिर देवताओं का तो कहना ही क्या? जर्मनी के गोइथे महाकवि के जीवन में हम इसी बात का निदर्शन पाते हैं। उन्होंने अपने बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न जीवन द्वारा अपने देशवासियों के सम्मुख जीवंन की वे परंपराएँ प्रस्तुत की थीं जो एक दिन वहाँ के आदिदेवों में उद्‌भूत हुई समझी जाती थीं।

हम अभी कह आये हैं कि नव वर्ष पर मनाये जानेवाले उत्सवों का आधार वह देवकथा है जिसके द्वारा हम अपने जीवन को वर्तमान के क्लेशभरित जीवन से उभारकर उसे फिर से नवीन बनाते हैं, या यों कहिये कि पुराने जीवन को नष्ट करके उसकी जगह हम नया जीवन उत्पन्न करते हैं। जीवन के इस पुनर्नवीकरण पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

खोये हुए स्वर्ग की कथाएँ तो आज भी हर व्यक्ति को तरसाती रहती हैं। उस स्वर्गीय उपवन की गाथाएँ जहाँ पाप का प्रवेश नहीं था, जहाँ नियमोपनियमों के पाश नहीं थे, जहाँ समय चलता नहीं था, या यों कहिये कि जहाँ समय एक बिंदु पर ठहरा रहता था। इस प्रकार के स्वर्ग की कथाओं द्वारा हम महाकाल के आदि बिंदु पर जा पहुँचते हैं और

इतिहासोपहत वर्तमान के चंगुल से हमें चंद क्षणों के लिए मुक्ति मिल जाती है। इस बार-बार के पश्चगमन में ही देवकथाओं की सौख्यकारिता संनिहित है।

पोलीनेशिया ने नाविकों की एक प्रशंसनीय आदत है। वे जब भी किसी महती नौ-यात्रा पर निकलते हैं तब उसे नवीन न मानकर समझते हैं कि ऐसी यात्राएँ तो वे सदा से करते ही आ रहे हैं। उनकी इस भावना का परिणाम यह होता है कि उनके मन से वर्तमान की झकझक दूर हो जाती है और वे सहज ही काल-समष्टि में प्रवेश पा जाते और अविच्छिन्न काल की अरुंतुद उपाधियों से स्वतंत्र बने रहते हैं। फल इसका यह होता है कि उनका जीवन बराबर नव-नव होता चला जाता है और वे अनारत आनंद में मस्त बने रहते हैं।

अविच्छिन्न काल की इतिहासोपहत उपाधि से स्वतंत्र होकर अनवच्छिन्न महाकाल की झांकी लेने के लिए आज का मानव दो उपाय काम में लाता है: एक साहित्यानुशीलन और दूसरा दृश्य-दर्शन। दृश्य में सभी प्रकार के नाटक, सभी प्रकार की प्रतियागिताएँ-जैसे कि बलीवेदी अथवा सांडों आदि की मुठभेड़, मुक्कामारों के दंगल-सम्मिलित हैं; क्योंकि इन सभी मनोरंजक तमाशों में उस-उस दृश्य का काल एक अजीब प्रकार का काल बन जाता है। इसमें प्रेक्षकों की उत्सुकता पराकोटि को पहुँची होती है और यह काल यातु-मिश्रित धर्म से अभिषिञ्चित होने के कारण महाकाल का प्रतिनिधि बन जाता है।

इस प्रसंग में साहित्य के दो व्यापार होते हैं: पहला देवशास्त्रीय साहित्य का सृजन और दूसरा पाठकों के हृदयपटल पर देवशास्त्रीय तत्वों का प्रतिफलन। साहित्यिक क्षेत्र में पहले-पहल देवकथाओं का प्रसव हुआ, फिर पुराण-गाथाओं का, उसके बाद आर्षी कविता बनी और इन सब के पश्चात् आज के साहित्य का उदय हुआ है। साहित्य कितना भी आधुनिक क्यों न बन जाए वह देवशास्त्रीय तत्वों से अछूता नहीं रह सकता, क्योंकि कविता की बात जाने दीजिए, आज के उपन्यासों तक में देवशास्त्रीय तत्व स्पष्ट रूप से झलकते रहते हैं। और ऐसा होना है भी उचित; क्योंकि प्रत्येक परिपक्व उपन्यास में उत्कृष्ट और अपकृष्ट का पारस्परिक संघर्ष आवश्यक होता है और हर विदग्ध कथा में

परिक्लेशित रमणी, उसका उद्धार, और अप्रत्याशित रक्षक द्वारा प्रणयपीड़ित रमणी का परित्राण आदि घटकों का होना वांछनीय होता है; और ये ही बातें हैं- एक देवकथा के प्रमुख घटक।

इस दृष्टि से भावप्रधान साहित्यिक कविता का तो कहना ही क्या? उसका तो प्रमुख लक्ष्य ही देवकथा का नवोदय करना रहता है। सच पूछो तो यथार्थ कविता है ही वह जो भाषा में नवजीवन डाल दे; जो प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा को नष्ट करके उसके स्थान में एक नवीन व्यक्तिगत भाषा का निर्माण कर दे। हम इस काव्यमयी भाषा को स्फोट या गुप्त भाषा के नाम से पुकार सकते हैं। कहना न होगा कि एक उच्चकोटि की कविता के निर्माण के समय काल का घटक लुप्त हो जाता है और हम आदिकालीन अवस्था की ओर अग्रसर हो जाते हैं; उस अवस्था की ओर जहाँ हर प्रकार की रचना इच्छामात्र पर निर्भर रहती है; जबकि भूत की भावना होती ही नहीं, क्योंकि उस समय तक समय की भावना नहीं बन पाई थी। और सचमुच यह किसी ने ठीक ही कहा है कि "एक रससिद्ध कवि के लिए भूतकाल नहीं होता।" क्योंकि इस कोटि का कवि तो जगत् को इस प्रकार टटोलता है मानो वह स्वयं सर्ग-प्रवृत्ति के आदिमूल में बैठा हुआ सर्गरचना को देख रहा हो, मानो वह सर्गरचना के आरंभिक क्षण में आंख खोले सब कुछ देख रहा हो। और थोड़ी-बहुत मात्रा में यह बात सभी कवियों में पाई जाती है; क्योंकि हर कवि थोड़ी-बहुत मात्रा में जगत् का नव-निर्माण किया ही करता है, क्योंकि वह जगती को ऐसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है जिसमें समय का घटक खुल जाता है और इतिहास की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं।

भद्र बर्बर अथवा आरंभ की मोहनी शक्ति

किसी ने ठीक कहा है कि "खोजने से पूर्व भद्र बर्बर का आविष्कार किया जाता है।" इतिहास बताता है कि 16 वीं, और 17 वीं सदी में योरोपीय मानव ने एक ऐसे भद्र बर्बर की कल्पना की थी जो आगे चलकर वहाँ की राजनीतिक एवं सामाजिक विचारधारा का प्रवर्तक बना और जिसका नमूना सामने रखकर वहाँ के विचारकों ने योरोप के आचार-विचार की प्रतिष्ठा की। योरोपीय विचारकों का यह भद्र बर्बर स्वर्ग की झाँकियाँ ढूँढ़नेवाले आदर्शवादी तरुण नर-नारियों का आदर्श

बना और ये लोग उसकी स्वच्छंद-वृत्ति पर अश-अश करने लगे, उसके धन और श्रम के समज्जित विभाजन की दाद देने लगे और प्रकृति की गोद में फलने-फूलने वाले उसके जीवन पर कविताएँ रचने लगे। किंतु याद रहे इस भद्र बर्बर के आविष्कार के पीछे वह परंपरीण देवकथा काम कर रही थी जिसका स्वर्ग के साथ संबंध अटूट रहता आया है।

भद्र बर्बर के पुजारी योरोपियनों ने अपने महाद्वीप से दूर-दूर जाकर नव-नव द्वीपों और महाद्वीपों को खोजा और वहाँ बसने वाले स्वच्छंदचारी आदिवासियों से प्रेम बढ़ाया; क्योंकि योरोपीय नर-नारियों की दृष्टि में इन भद्र बर्बरों को समय की बाधा नहीं सताती थी और इनके खेतों में बीज बिखरते ही धनधान्य से झोली भर देते थे। सच पूछिए तो योरोपीय गवेषकों ने भद्र बर्बरों के देशों को स्वर्ग के नाम से पुकारा है, और वहाँ रहनेवाले मांसाशियों के गुणगान में सहस्रों ग्रंथ लिख डाले हैं।

किंतु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि इन भद्र बर्बरों की अपनी कथा-कहानियों में भी विगत समय की स्मृतियाँ काम कर रही थीं; उस समय की स्मृतियाँ जबकि जगती अपने शैशव में खड़ी आगे की ओर निहार रही थी। योरोप के गवेषकों को इन बर्बरों के जंगलों में स्वयं ईडन गार्डन लहलहाता दीख पड़ा, उनके देशों में उन्हें स्वयं स्वतंत्रतादेवी खिलखिलाती दीख पड़ी और उनके समाज में उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक जगत् की वे सभी वदान्य भावनाएँ चरितार्थ होती दीख पड़ीं जिनके लिए ये गवेषक स्वयं अपने महाद्वीप में लालायित रहते आ रहे थे।

किंतु योरोप को छोड़ अब जरा इन भद्र बर्बरों की ओर आइए और निहारिए कि स्वयं उन्हें अपनी अवस्था कैसी लगा करती थी। निश्चय ही जिस प्रकार योरोप के निवासी अपने आपको स्वर्ग से बहुत दूर च्युत हुआ समझते थे उसी प्रकार उनेक भद्र बर्बर भी अपने आपको स्वर्गखंड से दूर गिरा हुआ माना करते थे। क्योंकि इन भद्र बर्बरों की दृष्टि में भी अतीत काल ही सुनहला था, और इन लोगों में यह भावना जागरूक थी कि ये लोग अतीत के आदर्श स्वर्णिम खंड से गिरकर बहुत दूर धरती पर आ पड़े हैं। क्योंकि स्वर्ग-संबंधी देवकथाएँ जैसी योरोप के देशों में प्रचलित थीं वैसी ही इन भद्र बर्बरों के देशों में भी आम थीं।

निःसंदेह देश-देश की इन देवकथाओं में भेद था, किंतु कुछ बातें सब देवकथाओं में समान पाई जाती थीं। उदाहरण के लिए यह भावना सभी जगह काम कर रही थी कि स्वर्ग का आदमी अमर था और वह देवताओं को अपनी आँखों से देखा करता था। वह प्रसन्न एवं संतुष्ट था और उसे भोज्य आदि की प्राप्ति के लिए हाथ नहीं हिलाना पड़ता था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इन भद्र बर्बरों के भी अपने भद्र बर्बर रहे थे, जिनकी ये लोग अपने आपको दूर की संतति बताया करते थे। उनके ये भद्र बर्बर स्वर्ग में विचरते थे और सर्वात्मना स्वच्छंद थे। हर प्रकार के श्रम से ये लोग बरी थे, और किसी भी फल के लिए इन्हें अंगुली नहीं हिलानी पड़ती थी। किसी कारण ये आदि मानव स्वर्ग से खिसककर दूर जा पड़े और उनके इस पतन में ही मानव-जाति के पतन का असली रहस्य छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि योरोपीय गवेषकों के भद्र बर्बरों की दृष्टि में भी जीवन का आनंद अतीत मे संनिहित था।

योरोपीय गवेषकों के भद्र बर्बर आदिम काल की स्मृति में पगे थे और तरह-तहर के उत्सव करके उसकी झाँकियाँ लिया करते थे। कह सकते हैं कि उन्हें अपने स्वर्ग की सनक जैसी सवार रहती थी और वे तरह-तरह से अपने उन आदि-पुरुखाओं की झांकी लिया करते थे जो कि उनकी दृष्टि में स्वर्ग के ईडन में विचरते थे-भले ही उनकी ये झांकियाँ चंद मिनटों के लिए ही क्यों न रहा करती हों।

सार इन बातों का यह निकलता है कि स्मृति द्वारा अतीत की उद्‌भावना करना ही मानव की अपनी बड़ी विशेषता है; इस प्रक्रिया के द्वारा जब मानव अतीत के उस तुङ्ग पर जा पहुँचता है जहाँ से क्रिया का स्रोत फूटा था, तब वह समय एवं इतिहास की परिधि से परे पहुँच जाता है और तब वह उसी मौलिक आनंद का लाभ कर लेता है कि मुक्ति में मिला करता है।

भारतीय-दर्शन के अनुसार मानव के क्लेश-जाल का कारण उसका समय द्वारा परिच्छिन्न हो जाना है और समयावच्छेद के आते ही जन्म-मरण की अविच्छिन्न संतति चल जाने का कारण मानवीय कर्म है। जब तक मानव का कर्म सशक्त रहता है तब तक वह जन्म-मरण के जंजाल में तड़पता रहता है। इस जंजाल से वह तभी छूट पाता है जब

वह अपनी कर्मश्रृंखला को तोड़ डालता और माया के आवरण को फाड़ डालता है। भारत में बुद्ध भगवान् को सब भिषजों का मूर्धन्य माना गया है और उनके संदेश को 'नवतम भेषज' के नाम से पुकारा गया है। बुद्ध भगवान् के संदेश का सार कर्मगति के चक्र को रोक देने में है और कर्मचक्र का उपरोध होता है अतीत की ओर अव्ययी प्रगति से; उस प्रगति से जो कि साधक को काल के आदि तुंग पर पहुँचा कर उसे महाकाल के साथ तादात्म्य कर दे। योगसूत्र (3-18) को यह प्रक्रिया ज्ञात है और बुद्ध भगवान् के अनुयायियों की इसमें आस्था रही है।

इस प्रक्रिया को सफलता के साथ व्यवहार में लानेवाला व्यक्ति अपने आपको वर्तमान से छुड़ा लेता और वहाँ से प्रतिलोम चलकर अपने पिछले जन्म पर, फिर उससे पहले जन्म पर, और फिर उससे भी पूर्व के जन्म की ओर बढ़ता-बढ़ता समय के उस बिंदु पर जा पहुँचता है जब कि सत्ता प्रवृत्ति की ओर सर्वप्रथम उन्मुख हुई थी; जब समय की कल्पना साकार न हो पाई थी, क्योंकि उस समय तक किसी भी पदार्थ का आविर्भाव न हो पाया था। अपने अतीत जन्म-जन्मांतरों में पहुँच कर एक अंतर्दर्शी साधक अपने कर्म-चक्र को निरुद्ध कर देता और उसके द्वारा कर्मजन्य भव-बंधन से मुक्ति पा जाता है। इससे भी अधिक रुचिकर बात जो इस प्रक्रिया से हाथ लगती है यह है कि इस प्रक्रिया को बरतते-बरतते एक साधक समय के उस आदि-बिंदु पर जा लगता है, जो कि समयाभाव का ही दूसरा नाम है, जो कि मानव के पतन से पहले का समय है, जो वस्तुस्थित्या महाकाल है और सब प्रकार की देशकालज उपाधियों से स्वतंत्र है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार बुद्ध-भगवान् को अपने विगत जन्म याद थे और ऋषि वामदेव ने तो ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा ही है कि "मैंने माता के गर्भ में रहते हुए ही देवताओं के सभी जन्मों को देख लिया था।" दूसरे शब्दों में कह सकतें हैं कि वामदेव अपनी माता के गर्भ में रहता हुआ भी समय के उस आदि-बिंदु पर विराजमान था, जब कि सर्ग-रचना आरंभ हुई थी; अर्थात् वह शाश्वत महाकाल के दर्शन कर चुका था, और देशकालनवच्छिन्न सत्ता के साथ तादात्म बन चुका था।

कहते हैं कि ग्रीस का परम दार्शनिक पाइथागोरस जब चाहता था अपने जन्म-जन्मांतरों को देख लेता था। ग्जेनोफोन और एम्पिडोकल्स के कथनानुसार यह दार्शनिक अपने मन को एकत्र करके इस बात को देख लेता था कि अपने विगत 20-30 जन्मों में वह क्या-क्या था और उन जन्मों में उसने क्या-क्या किया था। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाइथागोरस द्वारा प्रवर्तित दर्शन में स्मृति के समुचित विकास पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

विद्वान् लोग इस बात पर सहमत हैं कि प्लेटो का पुरा-स्मृति-संबंधी सिद्धांत वस्तुतः पाइथागोरस की देन है। किंतु प्लेटो इसे जन्म-जन्मांतरों की व्यक्तिगत स्मृति न मानकर इसे सामूहिक स्मृति-समष्टि के रूप में स्वीकार करता है, जो कि हर व्यक्ति के अंतरतम में निगूढ़ रहती है और जो उस काल की स्मृतियों का एक निकाय है जब कि आत्मा साक्षात् विचारों (Ideas) पर उतराती रहती थी। इस सिद्धांत के अनुसार हम सब विचारों (Ideas) को स्मरण करते हैं, और व्यक्तियों में दीन पड़ने वाले भेद का आधार उनकी स्मृतियों की अपूर्णता पर निर्भर है।

प्लेटो का अव्यक्तीभूत तत्व-निकाय की स्मृति के सिद्धांत में हमें परंपरीण विचारधारा का प्रतिफलन स्पष्ट दीख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्लेटो और आदि मानव के बीच का समय एक बहुत बड़ा अंतर है फिर भी इन दोनों की विचारधारा में एक प्रकार की संतता बनी हुई है। प्लेटो के विचार-विषयक सिद्धांत में मानव को उस देशकालानवच्छिन्न समय की स्मृति सजीव करनी होती है जो कि सब देशों के सब जनों में एक समान संमान्य है और जिसका उद्भावन सत्य एवं सत्ता के सद्बोध के लिए सुतरां आवश्यक है। प्लेटो की न्याईं आदि मानव भी व्यक्तिगत स्मृतियों को महत्व न देकर सार्वजनिक देवकथा को महत्व देता है; वह व्यक्तिगत इतिहास को महत्व न देकर आदर्श इतिहास की उद्भावना करता है।

आदि-परंपरा में स्वर्ग की ललक

अफ्रीकन लोगों की आदिकालीन सर्ग-विषयक देवकथाओं का सार ब्राउमान के शब्दों में यों है: उस युग का मानव मृत्यु से अछूता था;

वह पशु-पक्षियों की बोली समझता था और उनके साथ मिल-जुलकर रहता था; उसे काम नहीं करना पड़ता था, और भोज्य उसे अनायास मिल जाता था।

अफ्रीकन लोगों की सर्ग-विषयक यह धारणा थोड़े-बहुत भेद के साथ सभी लोगों में पाई जाती है। अफ्रीकन देवकथा के दो पक्ष ध्यान देने योग्य हैं: पहला, धरती और स्वर्ग का सामीप्य, और दूसरा धरती से स्वर्ग तक पहुँचने का एक साधन-जैसे कि सीढ़ी या कोई वृक्ष अथवा कोई ऊँचा पर्वत। अफ्रीका का शमन धरती से उठ कर स्वर्ग पहुँचने के लिए और वर्तमान से उन्मुक्त हो सुदूरातीत में प्रवेश पाने के लिए भाँति-भाँति के प्रयत्न करता है। दारुण यातनाएँ सह-सह कर वह अपने शरीर को लोहा बना लेता और अपने मन को वश में कर लेता है। तदुपरांत भावनाप्रवण प्रहर्ष के उन्माद में उठता-उठता वह अभिलषित स्वर्ग पर जा पहुँचता है। अपनी उस मस्ती की झूम में वह पशु-पक्षियों की बोली बोलता और उसे भलीभांति समझता है। और क्योंकि पशुपक्षी जीवन के रहस्य को भांपते, अमरता के तत्व को देखते और प्रकृति के अंतरात्मा को चीह्नते हैं इसलिए इनका प्रेमी शमन भी इनके संसर्ग से इन सब बातों को अनायास ही पा लेता है। पशुपक्षियों के प्रेम की सीढ़ी पर चढ़कर एक शमन सहज ही स्वर्ग की परिधि में जा पहुँचता है, जहाँ कि एक दिन पशुपक्षियों एवं मानव का निकट संपर्क सक्रिय था और जहाँ स्वेच्छाचारिता एवं स्वातंत्र्य सही मानों में बिखरा पड़ा था। दूसरे शब्दों में एक शमन भावना-भरित प्रहर्ष के उल्लास में उड़कर धरती को नीचे छोड़ देता और एक सीढ़ी अथवा वृक्ष द्वारा स्वर्ग में जा पहुँचता है। यह सीढ़ी और तरु स्वर्गीय स्तंभ अथवा वृक्ष के प्रतीक हैं। हमारा वेद यज्ञिय वेदी एवं यज्ञिय काष्ठ को भूमि की नाभि बताता है; यह यज्ञिय काष्ठ अथवा यूप भूमिमध्यस्थित एक सीढ़ी है, जिसके द्वारा एक याजक स्वर्ग में पहुँच जाता है। सर्ग-संबंधी यह ऊर्ध्वमूल और अधःशाख तरु भूमि के मध्य में लहलहाता है और धरती को स्वग्र के साथ मिलाता है।

निःसंदेह जगत् की प्रायः सभी आदिम जातियों में स्वर्ग की स्मृति और उसकी ललक समान रूप से पाई जाती है और इससे चेतना पाकर हर व्यक्ति स्वतंत्र, स्वैर बिहार की स्वर्गिक दशा को प्राप्त करना

चाहता है और मौलिक पतन के उपरांत अपने और स्वर्ग के बीच पैदा हुए अंतर को पाट देना चाहता है।

एक बात और; जिस प्रकार जगत् की सभी आदि जातियों में और आजकल के सुसभ्य समाज में स्वर्ग-विषयक भावना समान रूप से पाई जाती है उसी प्रकार यह धारणा भी एक सार्वत्रिक है कि स्वर्ग में प्रवेश पाने के लिए मानव को अग्नि में से गुजरना पड़ता और उस पर आधिपत्य प्राप्त करना होता है, और इस लक्ष्य के लिए वह ज्वलंत अंगारों पर चलता, ज्वलंत कोयलों को मुट्ठी में पकड़ लेता और कभी-कभी जलते कोयलों को खा तक जाता है। स्मरण रहे कि आदि मानव की दृष्टि में प्राणात्माओं (Spirits) का अग्नि पर आधिपत्य होता है; और अग्नि पर आधिपत्य पा लेने के उपरांत एक शमन भी प्राणात्माओं में सम्मिलित हो जाता है।

उक्त बातों का सार निकलता है कि क्या आदि मानव और क्या आज के सुसभ्य वैज्ञानिक स्वर्ग के प्रति लालसा सभी में एक समान जागरूक रहती है और सभी समान रूप से वर्तमान के चंगुल से बचकर कालानवच्छिन्न महाकाल में प्रवेश पाना चाहते और उसके द्वारा क्लेशजंजाल से मुक्त होना चाहते हैं।

आदिम समाज का भावनामय अनुभव

आदिम समाज के कतिपय व्यक्ति प्रहर्षोल्वण अनुभवों में विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने समाज को भांति-भांति के करिश्मे दिखाते रहे हैं। ये व्यक्ति शमन होते, झाड़ने वाले भगत होते और अलमस्त अवधूत होते हैं और ये अपने-अपने समाज के नेता माने जाते हैं।

इस कोटि के अलमस्तों का रवैया अजीब प्रकार का होता है। ये बहुधा एकांत भजते, भांति-भांति के स्वप्न देखते, अनहोनी बातें निहारते, यहाँ तक कि सोते समय भी गाने गाया करते हैं।कभी-कभी ये लोग उन्मत्त होकर हिंसा के काम कर डालते, तरुवल्कलों को खाने लगते, अपने आपको नदी-तालाबों में फेंक देते, आग पर पड़ जाते, और अपने शरीर को घायल कर डालते हैं। अपनी दैवी मस्ती में झूमते हुए कभी-कभी ये शाश्वत तत्व की झांकियाँ लेते थे और व्यक्ति के

पीछे छिपी समष्टि का दीदार पा जाते हैं। तब ये अपने वर्तमान जीवन से नज़ात पा जाते और तब ये एक नया चोला पहन लेते हैं, जिस पर अतीत के जन्मजन्मांतरों की छाप लगी होती है।

संक्षेप में किसी भी अवधूत संत की अलबेली मस्ती का राज़ उसके अपने वर्तमान जन्म को नष्ट करके नवीन जन्म धारण कर लेने में है, ऐसा जीवन जिसमें कि इंद्रियाँ यातुरज्जित धर्मदर्शी इंद्रियों में बदल जाती है। योगी की ये सिद्धियाँ उसे जन-समाज से पृथक् करके एक नवीन स्तर पर ला बिठाती हैं। प्राणायाम, आसन और समाधि से इन सिद्धियों की परिपुष्टि होती है और एक योगी अपनी इच्छा से मर सकता और मन-चाहा चोला धारण कर सकता है।

कहना न होगा कि इन सभी सिद्धियों का प्रमुख लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति करना रहता है। अपनी समाधि के ज्वलंत शिखर पर बैठा हुआ योगी चंद्रमा, सूर्य एवं अन्य सभी ग्रहोपग्रहों की यात्रा कर सकता और वहाँ बिखरे स्वर्ग का आनंद लूट सकता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी उद्दीप्त इंद्रियों द्वारा ऐसे लोक में पहुँच जाता है जो हमारी चर्मेंद्रियों से परे है और जिसे हम स्वर्ग के नाम से पुकारते हैं। ऐसा योगी शरीर में बंधकर भी शरीर के बाहर रहता और अनायास ही लक्षों और कोटियों कोस उड़ जाता है।

सभी देशों के शमनों और अलमस्त संतों की परा विभूति आकाश में स्वर्ग की ओर उड़ना होती है। इसीलिए योगियों और सिद्धों को बहुधा पक्षी कहा जाता है। हमारी आख्यायिकाओं में बार-बार आनेवाली उड़ानों का रहस्य इसी बात में है।

शमनों और योगियों की इस प्रकार की उड़ान का ओर उनके ऊपर की ओर चढ़ने का आशय उनका इंद्रियातीत विषयों का परिज्ञान है। तभी तो ऋग्वेद (6.9.5) मन को सब से तेज उड़ने वाला पक्षी बताता है और तभी पंचविंश ब्राह्मण (IV. 1.13.) कहता है कि जो "व्यक्ति ठीक-ठीक समझता है उसके पर होते हैं।" बौद्धों के अर्हत् और जैनियों के तीर्थंकर इसी आत्मिक ज्ञान से संपन्न हैं और हमारे कामचारी योगियों की तो निधि ही इस प्रकार की सिद्धि रहती आई है। चुटकी में अंतर्धान हो जाना और लहमे में वर्तमान चोले को उतारकर नवीन शरीर में प्रवेश

कर जाना इनके बाएं हाथ का काम होता है। कामचारी होने के कारण ही हमारे ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्मरंध्र के मार्ग से प्राण छोड़ते बताये जाते हैं; और याद रहे कि यहाँ ब्रह्मरंध्र से जगत् की नाभि, अथवा आकाश का मध्यवर्ती उच्चपद, अथवा कालातीत महाकाल अभिप्रेत हुआ करता है।

उड़ने और ऊपर आरोहण करने का आशय परम स्वातंत्र्य एवं सर्वातीतता (transcendence) को प्राप्त करना होता है। और यही भाव है बुद्ध के उन सप्त पदों का जो कि उसने उत्तर की ओर भरे थे। अपने इन सात पदों को भरकर बुद्ध सत्ता के परम तुंग पर जा पहुँचे थे और वहाँ खड़े होकर वे बोल उठे थे, "मैं जगत् के तुंग पर हूँ, मैं जगत् में सर्वश्रेष्ठ हूँ" (मज्झिम निकाय III.P.123)। अपने सात पगों द्वारा बुद्ध सात आसमानों को पार कर जाते और तब वे एक ऐसे बिंदु पर पहुँचते हैं जो उच्चता की पराकोटि है और जो देश-काल की उपाधि से सुतरां उन्मुक्त है। स्वर्गलाभ के पश्चात् सर्वातीतना का अनुभव बुद्ध से बहुत पहले ब्राह्मण तापस कर चुके थे; तभी तो शतपथ-ब्राह्मण (VI 2.5.10) यज्ञ को स्वर्ग की ओर जानेवाला पोत बताता और यज्ञ-प्रक्रिया को 'दूरोहण' अर्थात् कठिनता से चढ़ने योग्य बताता है। तैत्तिरीय संहिता (1.7.9) में याजक यज्ञ करने के उपरांत घोषणा करता है "मैं स्वर्ग में पहुँच गया हूँ, मैं देवताओं में मिल गया हूँ और मैं अमर बन गया हूँ। उसी संहिता में आगे आता है (VI.6.4.2) कि याजक स्वर्ग पहुँचने के लिए एक सीढ़ी लगाता है; वह वहाँ पहुँचने के लिए एक पुल बनाता है।" ऋग्वेद का वह मंत्र तो सर्वविदित है ही जिसमें ऋषि कहता है: "मैंने सोम पी लिया है और मैं अमर बन गया हूँ।"

स्वर्ग की ओर ले जानेवाले बुद्ध के सात पद विश्व के सभी आदि मानवों की पुराण गाथाओं में मिलते हैं। उदाहरण के लिए लीजिये: साइबेरिया का शमन स्वर्ग तक पहुँचने के लिए भूर्जवृक्ष के तने में सात घावड़े खोदता है और उनमें पैर टेकता-टेकता स्वर्ग में जा पहुँचता है। इस प्रकार की परिपाटियाँ अन्य देशों में भी मिलती हैं, जहाँ कि सात पदों से जगती की सात स्टेजें अथवा सात स्तर अभिप्रेत रहते हैं, जो कि एक दूसरे के ऊपर हैं और जो सात ग्रहीय स्वर्ग हैं, जिनका उच्चतम तुंग उत्तर दिशा में अथवा ध्रुवतारा में माना जाता है; और

यही संभवतः जगती का केंद्र भी है और यहीं से संभवतः कालान्वच्छिन्न महाकाल से सर्ग रचना की पौ फूटी थी। सर्ग-रचना के उसी उच्चतम शिखर पर पहुँचकर बुद्ध भगवान् ने घोषणा की थी "यह मैं हूँ जो कि जगती के शिखर पर हूँ। मैं ही सबसे पहला हूँ; क्योंकि सर्ग-प्रक्रिया के पूर्व्य बिंदु पर पहुँच कर बुद्ध पूरी तरह जाग उठते और सर्ग-प्रक्रिया के आदि बिंदु के समकालीन बन जाते हैं। तब वे समय की परिखा को पारकर जाते और सर्ग-रचना के उस महाकाल पर आ लगते हैं जो कि सभी प्रकार की क्रियाओं से पहले का है। बुद्ध की मुक्ति यही है और एक जीवन्मुक्त की मुक्ति इसी प्रकार की हुआ करती है।

सत्ता के उच्चतम शिखर से सर्ग-रचना होने का भाव भारत तक ही सीमित न रहकर अन्य देशों में भी आमतौर से पाया जाता है। सेमेटिक विचारधारा के अनुसार जगत् का आरंभ नाभि से हुआ है; और निश्चय ही जगत् की नाभि अथवा उसका केंद्र उसका सबसे अधिक प्राचीन भाग है; और इस प्रसंग में प्राचीनता से हमारा अभिप्राय है महाकाल से। उसी भावना के अनुसार बुद्ध के वार्धक्य से अभिप्रेत है बुद्ध का सत्ता के उस बिंदु पर जा उपस्थित होना जहाँ से सर्ग-रचना होने जा रही थी और जहाँ खड़े होकर बुद्ध ने इसे प्रवृत्त होते हुए अपनी आंखों देखा था।

यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा स्वर्गारोहण भी हमेशा केंद्र से होता बताया गया है और वेद ने इसीलिए जगह-जगह यज्ञ को जगत् की नाभि बताकर उसका गुणगान किया है और यज्ञिय यूप को जगत् की नाभि में निमित्त अर्थात् गड़ा हुआ बताया है। कालावछिन्न वर्तमान काल को छोड़कर कालानवच्छिन्न महाकाल में प्रवेश पा जाने में ही मानव-कर्तव्य की इति-श्री है।

दूरोहण एवं जाग्रत् स्वप्न

सभी जानते हैं कि मानव बहुधा स्वप्न में अपने आपको कहीं चढ़ता हुआ पाता अथवा ऐसी हरकतों में व्यापृत हुआ देखता है जिनका ऊपर की ओर उड़ान के साथ या ऊपर की ओर आरोहण के साथ संबंध रहा करता है। फ्रायड का विचार ठीक हो या गलत, इतना तो निश्चित ही है कि योरोप के बहुत से चिकित्सक अपने रोगियों में ऊपर की ओर

पहुँचने की समष्टि इच्छा को उद्बुद्ध करके उनका उपचार करने में सफल होते बताये जाते हैं। ऊपर पहुँचने की निलीन इच्छा जब रोगी के भीतर व्यापृत हो उठती है तब वह अपने रोगोपहत देह को तज देता और ऊपर की ओर उठता-उठता उस शिखर पर जा पहुँचता है जो देशकाल से अनवच्छिन्न है और इसीलिए रोगादि से भी सुतरां परे है। इस इच्छापूर्वक मर जाने और फिर जीवन धारण करने में ही मानव के ऐतिह्य की पराकाष्ठा है।

धर्म के इतिहास में शक्ति और पावनता

1917 में मार्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रुडल्फ़ ओटो ने 'दास हाइलिगे' नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो समय पाकर अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और जिसकी पाश्चात्य विचारधारा पर सदा के लिए अमिट छाप पड़ गई।

इस पुस्तक में रुडल्फ ओटो ने बताया है कि एक साधक का भगवान् दार्शनिकों के ब्रह्म से और प्लेटो के विचार या Idea से मूलतः भिन्न प्रकार में विकसित हुई है--क्योंकि हर साधक उस पावन शक्ति के सामने थर्राता और उसकी महनीयता से दहशत खाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भक्त के भगवान् से भय अथवा धाक की किरणें फूटा करती हैं जिनके संमुख एक साधक वलात् झुक जाया करता है। वह पावन शक्ति हम से सुतरां भिन्न प्रकार की है; वह हम से हर तरह अलग है। उसमें और हममें किसी भी प्रकार की समता नहीं है। उसके संमुख मानव एक नाचीज़ है; जेनेसिस (18.27) के शब्दों में वह 'निरी खाक और राख है।'

ओटो के अनुसार वह महनीय शक्ति अपने आपको मानवीय एवं प्राकृतिक सभी शक्तियों से सुतरां भिन्न प्रकार से प्रकट करती है। यह सही है कि उसके वर्णन में हम अपनी मानवीय भाषा का प्रयोग करके उसे अपने समीप-सी, अपने से मिलती-जुलती-सी दिखाने लगते हैं-किंतु सच पूछो तो वह हमारी भाषा की पहुँच से बाहर है-क्योंकि वह हम से मूलतः भिन्न प्रकार की है।

वह पावन तत्व अपने आपको शक्ति, ऊर्जा, अथवा विभूति के रूप में प्रकट करता है-और विश्व के सभी धर्मों का इतिहास उस तत्व से

विकसित हुए भ्राजमान तत्वों के इतिहास के सिवाय और क्या है? वह शक्ति एक पाषाण के रूप में, एक वृक्ष के रूप में, और सब से बढ़-चढ़कर एक मानवीय अवतार के रूप में प्रकट हुआ करती है।

उस पावन तत्व के विकसित रूप भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। किंतु एक बात जो इन सबमें समान रूप से पाई जाती है, यह है कि ये सभी उसी एक दारुण परम तत्व के प्रदर्शन, जो हमसे मूलतः भिन्न प्रकार का है और जो इन विकासों के द्वारा और इनके रूप में अपने आपको देशकाल द्वारा परिसीमित किया करता है। असीमित का इस प्रकार सीमा में बंधना ही आश्चर्य की परा कोटि है; किंतु इस प्रसंग में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भले ही उस परम शक्ति ने अपने आपको कृष्ण के रूप में प्रकट किया था, फिर भी हमारा कृष्ण उस शक्ति का सीमित विकास होने के कारण उसकी अपेक्षा कम शक्ति वाला है।

माना

ओटो के सिद्धांत से मिलता-जुलता दूसरा सिद्धांत 'माना' का है, जिसके अनुसार जगत् का हर पदार्थ 'माना' ही की शक्ति का विकास है। कालक्रमात् मानावाद के ऊपर दार्शनिकों की आस्था इतनी अधिक बढ़ी कि उन्हें धर्म का मूल ही माना के सिद्धांत में उद्‌भुत हुआ दीख पड़ने लगा।

माना के विषय में दो-एक बातें कह देना अप्रासंगिक न होगा। 19 वीं सदी के अंतिम चरण में अंग्रेज़ पादरी कोड्रिंग्टन ने बताया कि मेलानेशियन लोग एक 'माना' तत्व की माला-सी जपा करते हैं, जो एक अव्यक्तीभूत शक्ति अथवा प्रभाव है और जो भौतिक नहीं है। यह शक्ति प्रकृति से बाहर है, फिर भी यह सदैव प्रकृति के किसी रूप में या मानवे अथवा किसी अन्य प्राणी के भ्राजमान रूप में प्रकट हुआ करती है। यह 'माना' किसी भी वस्तु विशेष के साथ बंधी हुई नहीं है। फिर भी यह किसी भी वस्तु के रूप में या उसके द्वारा अपने आपको प्रकट कर सकती है। मेलानेशियन लोगों के अनुसार सर्ग-प्रसार भी मौलिक-तत्व की 'माना' ही का परिणाम है। किसी जाति या देश का नेता भी इस 'माना' ही के कारण उस जाति या देश का नेता बना करता है।

और क्योंकि माना अपना विकास किसी भी रूप में अथवा किसी भी प्रकार से कर सकती है इसलिए उसे अव्यक्तिक माना गया है और कहा गया है कि अशेष जगती में व्याप्त है। और इस बात का समर्थन इस तथ्य द्वारा किया गया है कि इरोकुओइस की ओरेण्डा, हुरोन की ओकि, और अफ्रीकन पिगमीज़ की मेगबे माना से मिलती-जुलती शक्तियाँ हैं; और इन बातों का स्वारसिक परिणाम यह हुआ कि धर्म का आदि-मूल अब 'माना' को माना जाने लगा। ध्यान रहे कि इस मानावाद का स्थान धार्मिक विकास में प्राणावाद में आत्मा के रूप में प्रकट होता है। टेलर के शब्दों में तो धर्म का आदिमूल ही प्राणनवाद में है-क्योंकि उस विद्वान के अनुसार धर्म के आदि रूप में जगत् को प्राणित रूप में देखा जाता था और इसके पीछे और इसके भीतर अगणित आत्माएँ व्याप्रियमाण मानी जाती थीं। किंतु अब दार्शनिकों को कोड्रिंग्टन की 'माना' हाथ लग गई, जोकि अव्यक्तिक थी और जगती में यहाँ-वहाँ हर जगह विकसित हुई दीख पड़ती थी। परिणाम इसका यह हुआ कि दार्शनिकों ने धर्म के मूल को प्राणनवाद के बजाय अब 'माना' में मानना आरंभ कर दिया।

किंतु बाद में विद्वानों के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि स्वयं मेलानेशिया के लोग भी एक शक्तिशाली स्रष्टा परमात्मा में आस्था रखते हैं, जो अपनी असीम शक्ति से इस जगत् को बनाता और अपनी महनीय शक्ति द्वारा अनेक देवी-देवताओं का सृजन करता है। इन सभी देवी-देवताओं में उसी आदि स्रष्टा की शक्ति काम करती है। वह स्वर्गिक देव समस्त विश्व को निहारता और अशेष जगती का नियंत्रण करता है। वह अमित ज्ञान, सत्ता एवं शक्ति का भंडार है। स्वयं हमारे यहाँ ऋग्वेद वरुण को जगत् का परम अधिष्ठाता बताता और कहता है कि वह जगती के भले-बुरे सभी पथों को देखता और हमारे निमेषोन्मेषों तक को गिनता रहता है। उसके ज्ञान का अंत नहीं और उसकी सत्ता का छोर नहीं है।

वरुण जैसे एक जगत्-स्रष्टा में अन्य देशों के आदि-मानवों की भी आस्था रहती आई है। किंतु कालक्रमात् वरुण की कोटि के देवता अपनी शक्ति एवं ज्ञान के असीम होने के कारण मानवीय पूजा-अर्चा की

परिधि से दूर होते गये-और अब मानव करने लगा ऐसे देवी-देवताओं की ऊहा और वंदना, जो कि उसके निकट थे और जिनसे वह अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताएँ पूरी करा सकता था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आदिकाल के प्रभूत देवता धीरे-धीरे धरती से उठते गए और अपनी जगह वे अपने से छोटे देवी-देवताओं को बिठाते गए, जो कि हैं तो उनके अधीन और उनसे छोटे, पर हैं मानव के अधिक पास और इसीलिए उसकी पूजा-अर्चा के विषय। उदाहरण के लिए-हेरेसोस लोगों का परम-देव न्याम्बी अब धरती को छोड़ स्वर्ग में जा विराजा है और अपने अनुयायियों को अपने से छोटे देवताओं की देखरेख में छोड़ गया है। परिणाम इसका यह हुआ कि हेरेसोस अपने परमदेव की पूजा करना छोड़ बैठे हैं और उसकी जगह वे छोटे-मोटे रोज के देवताओं की पूजा करने लगे हैं। इसी प्रकार तुम्बुक लोगों का परम-देव आज उनसे कहीं दूर जा पड़ा है और अब उसका उनकी दिनचर्या से किसी प्रकार का संबंध नहीं रह गया ह। एक्वेटोरियल अफ्रीका-वासियों के निम्न गीत में देवताओं की इस निर्माण-प्रक्रिया का साफ़ तौर से प्रतिफलन है:-

"(न्याम्वी) परमात्मा ऊपर है और आदमी नीचे।
परमात्मा परमात्मा ही है और आदमी आदमी ही।
हर एक अपनी जगह है, हर एक अपने घर में है।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने पर पता चलेगा कि सभी आदिम धर्मों में उनके परम-देव पीछे की ओर सरकते चले गये हैं, और शनैः-शनैः उनका जनता से संपर्क छूटता गया है। अलबत्ता गाढ़ा दिन आ पड़ने पर जनता एक बार फिर अपने परम-देव ही की शरण लेती है। उदाहरण के लिए-खुश्की लंबी चल जाने पर अथवा कठोर अकाल पड़ने पर आर्त जनता अपने परम-देव को याद किया करती है। क्योंकि प्रतिदिन के सामान्य देवताओं की पूजा से ऐसे मौकों पर काम नहीं सरता। टियेरा डेफ़ियेगो के निवासी संतान न होने पर अथवा मरणान्तक रोग आ पड़ने पर स्वर्ग में रहनेवाले सेल्कनाम परम-देव को स्मरण करते हैं। अन्य देवताओं की मिन्नत-समाजत करने पर भी जब काम नहीं सरता तब ओरओन लोग अपने परमात्मा धर्मेश के सामने यह कहकर घुटने टेक देते हैं-"हमने सभी कुछ कर लिया- अब

तो धर्मेश! तेरा ही सहारा है।" तब वे धर्मेश का नाम लेकर एक सफ़ेद मुर्गे की बलि देते और कहते हैं-"ओ देव! तू हमारा सिरजनहार है। हम पर दया कर।"

सार इन बातों का यह है कि कालक्रमात् महान् देव पीछे की ओर सरकते चले जाते हैं और उनका स्थान मानव के अधिक निकटवर्ती अवर देवता लेते चले जाते हैं, जो कि परम देव की अपेक्षा कहीं अधिक विग्रहवान् और करिष्ठ होते है, जैसे कि सौर देवता, प्रभूत देवियाँ और पुराण पुरखा। और यह देखा गया है कि ये अवर देवता उस-उस जाति अथवा उस-उस देश के समस्त धार्मिक क्षेत्र पर छा जाते हैं। किंतु दारुण विपद आ पड़ने पर सभी देशों की जनता उसी परम देव का आराधन करती है, जिसने कि उन्हें सिरजा है। यह बात आदि-जातियों तक ही सीमित नहीं है। इतिहास में एक बार ऐसा समय आया था कि जब यहूदी लोग समृद्धि के मद में बौराकर अपने परम-देव को भुला बैठे थे और उसकी जगह पड़ौसियों के देव बाल्स और अस्टार्टेस को भेजने लगे थे। किंतु जब उन पर ऐतिहासिक आपदाएँ घिर आईं तब बाल्स और अस्टार्टेस की पूजा से काम न चलता देख यहूदी लोग फिर से अपने परमात्मा की शरण आये और अब तक जाकर कहीं यह्वेह ने उनकी टेर सुनी।

एक बात और-आदि-जातियों में जो देवी-देवता परमात्मा का स्थान लेते हैं वे बहुधा उर्वरत्व, धन-संपत्ति, एवं जीवन में मनोरमता के देवता होते हैं। ये देवता जीवन को प्रभूत एवं धन-संपन्न बनाते, सर्ग में बहार लाते और वनस्पति, शस्य, पशु एवं धनधान्य में प्राचुर्य पैदा करते हैं। देखने में सारे ही देवता बलवान् और शक्ति-संपन्न हैं; और यह इसलिए कि धर्म में उनकी महत्ता का आधार उनकी शक्ति थी, उनकी ऊर्जा थी, उनकी प्रभावशाली उर्वरकता थी। यह सब कुछ होने पर भी सभी आदि-जातियों का, विशेषतः यहूदियों का विश्वास था कि दारुण विपत्ति में उनके ये देवी-देवता, उनके ये सौर एवं कृषि-देवता, ये पुरखा, भूत और प्रेत उनकी रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। क्योंकि भले ही ये देवता जीवन को फिर से बनाते थे, सर्ग के ढीले चूलों को कसते थे, उसके बिगड़े तारों को मिलाते थे-फिर भी ये सर्ग के स्रष्टा

नहीं थे, ये मानव-समाज के निर्माता नहीं थे; और इसी बात में उनकी न्यूनता छिपी हुई थी।

आदि स्रष्टा का स्थान लेनेवाले देवता विशेष-विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे-संक्षेप में वे जीवनी शक्ति के निधान थे। और क्योंकि वे एक विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे इसलिए उनका वह शिवमय धार्मिक पहलू धीरे-धीरे नष्ट होता चला गया, जो कि आदि स्रष्टा परमात्मा का अपना था। और ज्यों-ज्यों मानव जीवन चारुता एवं उसके प्राचुर्य की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह जीवन के उर्वरक देवताओं के जाल में फंसता चला गया और उनसे जीवन को सरस एवं संपन्न बनाने की प्रार्थनाएँ बढ़ाता गया। जीवन को प्रभूत बनाने की धुन में वह जीवन के आदि स्रोत की ओर से पराङ्मुख हो गया और उसकी इसी बात में उसके पतन का रहस्य छिपा हुआ है।

शक्ति-संपन्न देवता

कहना न होगा कि ज्यों-ज्यों मानव का मन भौतिक विकास की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह आदि-स्रष्टा को भूलता गया और उसकी जगह जीवन को सबलाने एवं सरसाने वाले देवी-देवताओं की उद्भावना करता गया-यहाँ तक कि एक समय ऐसा आया जब कि वह वरुण जैसे जगत्-स्रष्टाओं को सुतरां भूल बैठा और उनकी जगह उन देवी-देवताओं को भजने लगा जो कि जीवन को उर्वर बनाने वाले थै और उसमें बहार लानेवाले थे। इस विकास में जहाँ और बहुत-सी बातों ने भाग लिया वहाँ कृषि ने सबसे अधिक हाथ बंटाया-क्योंकि कृषि का विकास होते ही ऊपर बैठे वे देवी-देवता, जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती के साथ संबंध था-जैसे कि प्रभूत देवियाँ, दैवी माताएँ और उनके दैवी पति; और अब बन गये मानवीय पूजा के ये ही देवता अग्रय भोक्ता। स्वयं वेद में ही देखिए-वह पुराना भारत-ईरानी देवता 'द्यौस्' पीला पड़ गया है। बहुत पुराने में उसका स्थान वरुण ने और झंझा के देवता पर्जन्य ने ले लिया था। वरुण और पर्जन्य को इनके पश्चात् उभरने वाले इंद्र-देव ने पीछे धकेल दिया, और अब बन गया इंद्र ही वैदिक आर्यों का सबसे अधिक मन-चाहा देवता; क्योंकि वह शक्ति, ऊर्जा, वैभव और प्रभाव सभी का स्रोत था। इंद्र में जीवन की सारी ही

सरस लहरियाँ विद्यमान हैं; वह जलों को प्रवाहित करता, बादलों को टकराता और सलिल एवं रुधिर में संचार पैदा करता है। वह रसों का स्वामी है और उर्वरता का स्रोत है। फलतः वेद ने उसे सहस्र-मुष्क कहकर पुकारा है; वेद उसे क्षेत्रों का पति बताता, धरती का वृक्ष कहता और क्षेत्रों, पशुओं एवं स्त्रियों का सेचक बताता है। चाहे हम उसके वृत्रदारक वज्र पर ध्यान दें और चाहे उसकी झंझा पर जो कि वर्षा से पहले आया करती है, चाहे उसके मनभर सोम पीने को देखें और चाहे उसके खेतों को उर्वर बनाने और स्त्रियों को पुरंध्री करने को, उसमें हमें जीवन की सारी ही प्रभूतियाँ दीख पड़ती हैं। उसके हर श्वास में पूर्णता है, उसकी हर डींग से हेकड़ी झलकती है। जीवन में संभाव्य सभी संपत्तियों का इंद्र सबसे बड़ा निधान है।

एक उदाहरण और लीजिए-मेसोपोटामिया के सबसे अधिक पुराण देवताओं में से एक था अनु, जिसका अर्थ द्योस् है। ईसा से 4000 वर्ष पहले तक मेसोपोटामिया में उसी की पूजा प्रचलित थी। किंतु बाद के ऐतिहासिक युग में अनु एक भावरूप-सा सूक्ष्म देवता बन गया और उसकी पूजा उठ गई। उसका स्थान उसके पुत्र एनलील (अथवा बेल) ने लिया, जो कि झंझा और प्रजनकता का देवता है और उस प्रभूत माता का पति है जो कि विशाल गौ के नाम से ख्यात है और बेलतू अथवा बेलित नाम से न्योति जाती है। मेसोपोटामिया में और उससे भी अधिक मध्यपूर्व में ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ ऊर्जस्वी देवताओं के पीछे की ओर धकेले जाने के साथ-साथ उनका स्थान उर्वरक देव लेते चले गए हैं, जो कि उस प्रभूत माता के पति होते हैं, जिसका नाम कृषि-देवी है। यह सही है कि उर्वरकता का यह देवता प्राचीन द्योस् जैसे देवता की तरह एक-प्रभुता-संपन्न नहीं होता और साथ ही यह वैवाहिक बंधन में भी बंधा रहता है। उस सर्गशक्ति का स्थान, जो कि पुराण देवता द्यौस् का प्रमुख लक्षण था, अब दैविक विवाह ले लेता है, और उर्वरकता का यह देवता जगत् का रचयिता न रहकर उसका उर्वरक-मात्र बन जाता है। कतिपय संस्कृतियों में तो उर्वरकता का यह पुं-देवता स्त्री-उर्वरक देवी का अनुषंगी बनकर हमारे सामने उभरता है-क्योंकि इन संस्कृतियों में जगती के भीतर रसासार प्रवाहित करना स्त्री-देवी का काम है। पुं-देवता

तो उसका प्रेरक या सहायक-मात्र रहा करता है-ठीक वैसे ही जैसे कि सांख्य में पुरुष और प्रकृति। कालक्रमात् इस पुं-देवता का स्थान उसका पुत्र ले लेता है और अब यह पुत्र अपनी माता का प्रणयी बन जाता है। इस श्रेणी के देवता तम्मुझ, अत्तिस, और एडोनिस आदि से पाठक लोग भली-भाँति परिचित हैं-इन देवताओं का प्रधान लक्षण है (बलि के रूप में) मर जाना और मरकर फिर से नवजीवन धारण करना।

ओउरनस (वरुण) की गाथा से यह बात सुव्यक्त हो जाती है कि किस प्रकार शक्ति-प्रधान देवता द्यु-संबंधी देवताओं को पीछे की ओर धकेलते रहे हैं। औउरनस्-जिसका अर्थ है-द्यौस् और जिसने अपनी पत्नी गेइया से देवताओं को, साइक्लोप्स को और उन्हीं के समान अन्य दैत्यों को जन्म दिया था, अंत में अपने पुत्रों में से एक क्रोनोस (काल) के हाथों बधिया बना दिया जाता है। ओउरनस के बधियापन से उसकी कालागत प्रभावहीनता अभिप्रेत है, जिसका दूसरे शब्दों में आशय हुआ द्यु-संबंधी देवता की कालक्रमात् बल-हीनता। बाद में ओउरनस का स्थान झीयस ने ले लिया, जिसमें एकच्छत्री सम्राट् एवं झंझा के देवता दोनों ही के लक्षण विद्यमान थे।

यह सच है कि कतिपय द्यु-देवता अपना महत्व बनाये रखने में सक्षम सिद्ध हुए हैं, किंतु इसके लिए इन देवताओं को अपने आपको एकच्छत्री सम्राट के रूप में प्रकट करना पड़ा है। निःसंदेह एकच्छत्रता में एक विशेष प्रकार की शक्ति है जो कि एक देवता को देववर्ग में निरिक्त स्थान प्राप्त करने और उसे बनाये रखने में सक्षम बनाती है। झीयस, जूपिटर, चीनी तियेन और मंगोल लोगों के देवताओं के बारे में ऐसा ही हुआ है। एकच्छत्रता की भावना अहुर-मज्दा में भी काम करती रही है, जिसने कि उसे अन्य सभी तद्देशीय देवताओं की अपेक्षा अधिक उन्नत पद दिलाया था। यही बात किसी सीमा तक यह्वेह के विषय में भी कही जा सकती है; किंतु यह्वेह का व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का प्रकीर्ण व्यक्तित्व है और उसके विषय में यहाँ कुछ अधिक लिखना अप्रासंगिक-सा प्रतीत होता है।

भारत में शक्ति-पूजा

हम अभी कह आये हैं कि आदि-स्रष्टा परमात्मा का स्थान कालक्रमात् उसी के हाथों रचे गये अवर देवताओं ने ले लिया था- क्योंकि आदि-स्रष्टा अत्यन्त ऊँचा था और द्यु-संबंधी था, जब कि ये देवता उससे निम्न थे, पर थे शक्ति-संपन्न। सार इसका यह हुआ कि मानव-विकास के साथ-साथ ऊँचाई का स्थान शक्ति ले लिया करती है।

शक्ति की यह पूजा भारत में शाक्त मत के रूप में विकसित होकर तंत्रों में फलभरित हुई है। तंत्रों के अनुसार शिव निष्क्रिय है, सांख्यों के पुरुष की न्याईं वह क्रिया से सुतरां अलिप्त है, जबकि शिव की शक्ति, जो सर्गरचना के उपरांत उससे पृथक-सी हो गई थी सभी प्रकार की क्रियाओं एवं शक्तियों का अखंड स्रोत है। इस परिस्थिति में एक तांत्रिक का लक्ष्य होता है-शक्ति की पूजा करना और इस पूजा के द्वारा शक्ति को शिव से युक्त कर देना। किंतु शिव और उसकी शक्ति तो तांत्रिक की पहुँच के सर्वथा बाहर है। फलतः वह अपने शरीर के भीतर चल रही सर्ग-प्रक्रिया को उद्भावित करके अपने भीतर की कुंडलिनी को जगाता है, और जब वह जागकर ऊपर की ओर चढ़ती और चढ़ते-चढ़ते मस्तिष्क-स्थिति शिव से आ मिलती है तब तांत्रिक को एक अभूतपूर्व आनंद का अनुभव होने लगता है; और तब उसके शरीर का निम्न भाग बर्फ़ की तरह शीतल पड़ जाता और उसका ऊपरी भाग आग की तरह प्रदीप्त होकर दमकने लगता है। संक्षेप में एक तांत्रिक शिव और शक्ति की आदिम सर्ग-रचना का नमूना अपने ही शरीर के भीतर खड़ा करता और उसके द्वारा सर्ग के आदि-बिंदु पर पहुँचकर स्वर्गीय आनंद का उपभोग करता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तंत्रविद्या में भी शक्ति के देवता द्वारा शक्ति से विहीन हुए आदि-देवता को फिर से सबल बनाना होता है।

माता पृथिवी और सर्गीय देवों का विवाह

उमल्लिला जाति के स्मोहल्ला नामक अमेरिकन इंडियन ने धरती पर हल चलाने से यह कहकर इनकार कर दिया था कि ऐसा करना दारुण हिंसा होगी। खेती के लिए हल चलाकर अपनी माता की छाती को छेदना महापाप है। खेती के लिए अधिक जोर देने पर वह बोल उठा

था: "तुम्हारा मतलब है कि मैं अपनी माता की छाती में चाकू घुसा दूँ। यदि मैंने ऐसा किया तो मरने के बाद वह मुझे अपनी छाती में स्थान नहीं देगी और तब मैं उसके पेट में प्रवेश न पा सकूँगा और इसका मतलब यह होगा कि मैं कभी भी नया जन्म न ले पाऊँगा। तुम मुझे घास खोदकर पैसा कमाने के लिए कहते हो-पर तुम्हीं बताओ कि मैं अपनी माता के बाल अपने ही हाथों कैसे काट डालूँ?"

ये शब्द एक अमेरिकन इंडियन ने आज से लगभग 60 वर्ष पहले कहे थे; किंतु इनमें अतीत की अगणित सदियों के धार्मिक दृष्टिकोण का निचोड़ भरा हुआ है। इनसे ज्ञात होता है कि किस प्रकार एक ग्रामीण मानव धरती को अपनी माता कहकर उसकी पूजा करता है। क्योंकि उसका विश्वास है कि उसके आदि पुरखा धरती में से जन्मे थे और मरने के बाद वे फिर उसी के भीतर पहुँच गए हैं और स्वयं उसे भी मृत्यु के उपरांत इस धरती ही के पेट में समा जाना है।

आदि-मानव पत्थरों को धरती की अस्थियां समझता था और वृक्षों को उसके बाल मानता था। उसकी दृष्टि में धरती जगत् के सभी पदार्थों की माता थी। उसकी देवकथज्ञ के अनुसार उसके पुरखा धरती के पेट में कहीं बहुत नीचे रहा करते थे। वहाँ उनका जीवन अर्ध पाशविक-सा था--और वे बहुत कम विकसित हो पाये थे। उन्हें धरती में से बाहर आने में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी थीं किंतु अपने अनथक परिश्रम से वे धरती के पेट से बाहर आ गये और तब धरती के ऊपर जन्म की प्रक्रिया प्रवर्तित हो गई।

आदि-मानव धरती की उदर-दरी से बाहर कैसे आया-इस विषय में आदि मानवों में भांति-भांति की कहानियाँ प्रचलित हैं। किंतु सार उन सबका इस बात में है कि आदमी धरती के पेट में से आया है और मृत्यु के उपरांत उसे फिर उसीके भीतर चले जाना है। स्वयं हमारी रामायण में सीता माता रामचंद्र के हाथों अपमानित होने पर माता धरती के पेट में अंतर्हित हो जाती है; और ऐसे उदाहरणों से हमारे आर्षकाव्य एवं पुराण भरे पड़े हैं जहाँ आविष्ट व्यक्ति धरती को माता कहते और उससे तरह-तरह की दुआएं मांगते हैं। चीर-हरण के समय स्वयं द्रौपदी ने धरती-माता से रक्षा की भीख मांगी थी।

धरती को माता कहने की प्रवृत्ति इतनी अधिक सबल एवं व्यापक है कि बहुत सी भाषाओं में तो मनुष्य का नाम ही धरती के नाम पर पड़ गया है। बहुत सी जातियों में यह विश्वास आम है कि बच्चा धरती में से उसकी खोहों में से, या उसकी छिपी दरारों में से आता है। धरती के मातृत्व की भावना ही में देश प्रेम के बीज संनिहित है और इसी में संनिहित हैं उस भावना के भी बीज जिसके आकर्षण से मनुष्य सदा अपनी ही धरती पर मरना चाहता और मृत्यु के उपरांत उसी में समा जाना चाहता है। तभी तो ऋग्वेद (X.18.10) कहता है कि "चला जा फिर उसी धरती में जो तेरी माता है।" अथर्ववेद (XVIII.4.48) इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त करता है: "तुम, जो कि धरती हो, मैं तुम्हें धरती ही में फिर से रखता हूँ।" चीनियों के यहाँ भी कहावत है कि: "तेरी मांस और हड्डियां धरती में लौट जाएँ।"

एक समय था जब कि मानव धरती को सजीव समझता था। तभी तो ड्यूकालियन ने "अपनी माता की हड्डियों को अपने कंधे पर से इस निमित्त फेंका था कि वह उनके द्वारा फिर से जगत् में जीवधारी पैदा कर दे। माता की ये हड्डियाँ धरती के पत्थर थे; और उसका विश्वास था कि इन पत्थरों से जीवधारी पैदा होंगे। पत्थर फेंक कर ड्यूकालियन वास्तव में धरती पर मानवता के बीज बिखेर रहा था।

अब यदि धरती सजीव है तो इससे पैदा हुआ भूतजात भी सजीव हैं और परस्पर भाई-भाई की तरह संबद्ध है। इस अवस्था में किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग करना या उसे क्षति पहुँचाना भाई को क्लेश देना है। हमारी वैदिक कहावत-

***'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'** का इसी भावना में रहस्य छिपा हुआ है।*

बेबिलोनियन शब्द 'पू' का अर्थ 'नदी का उद्भव' और 'योनि' है। मिश्री भाषा में 'बी' शब्द का अर्थ होता है 'योनि' और 'खान का मुंह'। सुमीरियन शब्द 'बुरू' का अर्थ भी 'योनि' और 'नदी' है। अब यदि नदी के स्रोत को जन्म देनेवाला धरती का उत्स धरती की योनि है तो धरती की खोहें और उसकी दरारें उसका उदर होंगी-इन दरारों ही में प्राचीन काल के लोग शवाधान किया करते थे और इन दरी-गृहों ही में

प्राचीन काल का मानव अपना जीवन बिताया करता था और इन्हीं के निलीन भागों में वह अपनी पूजा का सामान सजाया करता था। इन दरी-गृहों के भीतरी भागों में ही वह अपने देवी-देवताओं की तसवीरें खींचा करता था। बुरु आदि शब्दों से धरती के स्त्रीत्व पक्ष पर तीव्र प्रकाश पड़ता है।

पृथ्वी-स्त्री और आकाश-पुरुष के विवाह की बात प्राचीन काल से चलती आ रही है; और वेदों में जगह-जगह इन दोनों के युग्म की रुचिर उत्थानिका की गई है। ओउरनस (आकाश) का उसकी पत्नी गेइया (पृथ्वी) से संसर्ग होता है और उससे उत्पन्न होते हैं देवता. साइक्लोप्स तथा विविध प्रकार के दैत्य-दानव। एशिलस अपने दानाइदूस में कहता है कि "पावन आकाश अपनी प्रियतमा धरती के शरीर में प्रविष्ट होने के लिए वातूल हो रहा है।" जगती में जो भी कुछ है सबकी उत्पत्ति धरती और आकाश के संसर्ग से हुई है।

अत्यन्त व्यापक होने पर भी धरती-आकाश के विवाह की बात सर्व-व्यापक नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए ग्रास्ट्रेलियन और प्युजीयन लोगों की देवकथाओं में जगत् की रचना एक द्यु-संबंधी परमात्मा करती है और कभी-कभी तो इस रचयिता को शून्य में से सब कुछ बनाने वाला समझा और बताया जाता है। इन बातों से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में धरती-आकाश के विवाह की बात नहीं उभर पाई थी और लोगों की धारणा यह थी कि जगती को परमात्मा ने अकेले ही अपने आप रचा है, उसने उसे स्वयं अपनी ही शक्ति से सिरजा है। कुछेक आदिमानवों का परमात्मा सर्वशक्तिमान था। वह अविभक्त था, स्त्री और पुमान् दोनों का समवाय था, वह स्वयं ही आकाश था और स्वयं ही धरती था। ऐसी धारणा में देव-विवाह की आवश्यकता नहीं पड़ती और परमात्मा स्वयं अपनी ही अविभक्त शक्ति से अशेष सर्ग-प्रक्रिया को प्रवर्तित कर देता है। दूसरे शब्दों में भगवान की अखंडता उसकी 'सर्वता' का बोधक है और सब प्रकार के विरोधों के एकत्र समन्वय का ख्यापक है। लिंगभेद से पहली स्टेज होने के कारण यह दशा देशकाल के अविच्छेद से भी परे की है। हमें जब किसी दैत्य या दानव की महिमा ख्यापित करनी होती है तब उसे भी हम अखंडरूप बताया करते हैं-जैसे

कि स्वयं आदम को। बेरेशित रब्बा कहा करता था कि "वह दक्षिण भाग में पुमान् था और वाम भाग में स्त्री, और परमात्मा ने उसे दो भागों में विभक्त कर दिया था।" अत्तिस, एडोनीस, और डियोनिसस तो अविभक्त थे ही, साइबेल देवी भी अविभक्त थी। और यह बात है भी सही, क्योंकि जीवन तो तभी प्रवाहित होता है जब उसका प्रभव लबालब भर चुका हो और जब उसमें एक बूंद भी और अधिक आने की गुंजाइश न रह गई हो। निःसंदेह माता के रूप में धरती की पूजा अत्यन्त प्राचीन है और आकाश की भी पिता के रूप में पूजा उसी समय से चलती आ रही है। किंतु आदिम देव, जिससे कि यह सर्ग-रचना प्रवृत्त हुई है स्त्री और पुमान् इस लिंग-भेद से परे था; या यों कहिये कि ये दोनों ही लिंग उसमें एक होकर समवेत पड़े थे। इस समष्टि को हम "एक नपुंसक उत्पादक-सामस्त्य" इस नाम से पुकार सकते हैं; और यही कारण है कि हमारा ब्रह्म नपुंसक लिंग में आता है, जबकि हमारे अन्य परमात्मबोधक शब्द पुल्लिंग में आया करते हैं। हमें जब भी कर्तृत्व की आदिम स्थिति का बोध कराना होता है तब हम अपने शब्दों को नपुंसक लिंग में रख लेते हैं।

इझनगी और इझनमी

ऊपर के तत्वों पर निम्नलिखित जापानी सर्गकथा के विश्लेषण से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस कथा का संबंध धरती-आकाश के विवाह से और माता-पृथ्वी के बलिदान से उत्पन्न हुए वनस्पति-पौधे आदि की रचना से है। जापानी देवकथा का सार इस प्रकार है:

आरंभ में आकाश और पृथिवी-इझनगी और इझनमी-पृथक्-पृथक् नहीं थे; उन दोनों का समवेत रूप अखंड प्रकृति जैसा प्रशांत पड़ा था। यह एक अंडे जैसा था, और इसके बीच में एक जीवाणु था। जब आकाश और धरती इस प्रकार समवेत थे तब स्त्री और पुमान् का भेद भी नहीं था। फलतः वह अवस्था परिपूर्ण सामस्त्य की अवस्था थी। समय आया और आकाश पृथ्वी से पृथक् हो गया। उनका यह पृथक् होना ही सर्ग-रचना के बटन का दबना था। इसी रचना से आदिम एकता में क्षोभ उत्पन्न हुआ था।

सर्ग-रचना इस प्रकार हुई थी; सबसे पहले एक छोटा-सा द्वीप था, जो अस्थिर था, आकारहीन था और समुद्र से परिवेष्टित था-इस द्वीप के मध्य में एक बेंत या नड खड़ा था। इस नड से ही देवता उत्पन्न हुए। यह नड ही पृथ्वी का सबसे प्राचीन रूप था। ज्यों ही आकाश और पृथिवी एक दूसरे से पृथक् हुए त्यों ही उन्होंने पुरुष और स्त्री का रूप धारण कर लिया।

तीन देवता इझनमी और इझनगी को सर्ग-रचना करने का आदेश देते हैं। वे स्वयं सर्ग-रचना में भाग नहीं लेते; किंतु वे उसकी प्रक्रिया पर आंख लगाये रहते और देखते रहते हैं कि कहीं किसी से तनिक-सी भी भूल न हो जाय। उदाहरण कि लिए-जब आकाश और पृथ्वी का विवाह होता है और विवाह-मंत्र का उच्चारण पृथ्वी पहले करती है तब ये तीन देवता उसे रोकते और कहते हैं कि वैवाहिक मंत्र पहले आकाश को-जो कि पुरुष है-बोलना चाहिए। उनसे उत्पन्न पहला बालक छुईमुई होने के कारण त्याग दिया जाता है-क्योंकि इसे उत्पन्न करते समय वैवाहिक मंत्र पहले पृथ्वी ने पढ़ा था। किंतु जब इस मंत्र को पहले आकाश पढ़ता है तब आकाश और धरती के संसर्ग से जापानी द्वीप की और देवताओं की उत्पत्ति होती है। अंत में अग्निदेव का आविर्भाव होता है जो गर्भ में रहते हुए ही अपनी माता इझनमी को जला देता है और वह मर जाती है। अपनी यातना के अंतिम दौरान में इझनमी अपने शरीर से अन्य देवताओं को उत्पन्न करती है-विशेषतः अप्य जगत् की और कृषि के देवताओं को।

मृत्यु के उपरांत इझनमी धरती के भीतर चली जाती है। उसका पति इझनगी उसकी खोज में निकलता है। किंतु धरती के भीतर गहरा अंधेरा है और हाथ मारे हाथ नहीं मिलता; फिर भी इझनगी अपनी पत्नी को खोज निकालता और उसे ऊपर लाने का प्रयत्न करता है। इझनमी उसे दरवाज़े पर ठहरने को कहती और प्रकाश दिखाने से रोकती है। किंतु पति का धीरज टूट जाता है और वह टार्च जलाकर अपनी पत्नी के शरीर को सड़न की अवस्था में देख लेता और उसे देखते ही भाग निकलता है। उसकी मृत पत्नी उसका पीछा करती है। किंतु इझनगी उसी मार्ग से बाहर निकल आता है जिससे कि वह धरती के भीतर गया था;

और बाहर निकलते समय पत्थर से उस रास्ते को बंद कर देता है। पत्थर बीच में आ जाने पर भी पति-पत्नी कुछ देर आपस में बात करते हैं। इझनगी विच्छेद का मंत्र बोल कर स्वर्ग में चला जाता है और उसकी पत्नी इझनमी सदा के लिए धरती में समा जाती है। वहाँ रहते हुए वह मृतात्माओं की देवी बन जाती है। इसके साथ ही वह उर्वरता की, मृत्यु की, और जन्म की देवी भी बन जाती है।

जापानी कथा कई दृष्टियों से महत्व की है: (1) इसके अनुसार आदिम अवस्था में विषम तत्व सम होकर एक स्थान पर समवेत पड़े थे; वे एक थे और अखंड खंड थे। (2) यह सामस्त्य आकाश और पृथिवी के विवाह से पहले की अवस्था थी। किंतु इसमें विविधता के बीज संनिहित थे। (3) सर्ग-रचना आकाश और धरती के पृथक् होने के साथ प्रारंभ हुई; और आदिम बीज ने एक नड का रूप धारण किया जिसमें से देवता उत्पन्न हुए। (4) विवाह की कल्पना उनके पार्थक्य के बाद उत्पन्न हुई, जब कि दो भिन्नलिंगी देवता आपस में मिले; उनके संसर्ग से देवता पैदा हुए और जगत् की रचना हुई (5) और अंत में इझनमी माता अग्निदेव को जन्म देते समय स्वयं मर जाती है और उर्वरकता के देव उसके मरे शरीर से जन्म लेते हैं। इस कथा का अंतिम तत्व हमारे लिए महत्व का है, क्योंकि इसके अनुसार वीरुधों की उत्पत्ति इझनमी के वास्तविक शरीर से होती है, न कि उसके इझनगी के साथ होने वाले संसर्ग से। यह सर्ग-रचना इझनमी के शारीरिक बलिदान से होती है और इस बलिदान में ही जीवन-प्रक्रिया का सार संनिहित है।

इस कथा पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सर्ग-रचना दो प्रकार से होती है: एक लैंगिक संसर्ग से और दूसरी शारीरिक बलिदान से; विशेषतः उस बलिदान से जो कि अपनी इच्छा से दिया जाता है।

हमारी वैदिक गाथा में सर्ग-रचना की दोनों ही विधाएँ दिखाई गई हैं। सब से पहले आदि पुरुष, जो कि सहस्राक्ष एवं सहस्रपात् था, अपने आपको बलि चढ़ाता है और उससे जगत की उत्पत्ति होती है। बाद में लैंगिक प्रक्रिया चल पड़ती है और सर्ग की प्रगति अबाध बन जाती है।

उक्त वर्णन से सार निकलता है कि "रचना एक प्राणी को बलि चढ़ाए बिना नहीं हो सकती; फिर चाहे यह प्राणी एक दैत्य हो, सर्गिक

पुमान् हो, माता देवी हो और या एक युवती स्त्री हो।" सर्ग-विषयक यह बात उसके हर स्तर पर लागू होती है: यह लागू होती है सर्ग-रचना पर, मानव-निर्माण पर, मानव-समाज की जाति-विशेष के निर्माण पर, वनस्पति-वर्ग के भेद-विशेष पर और प्राणिजात अथवा प्राणि-विशेषों के निर्माण पर। रचना का रहस्य उसी एक तत्व, अर्थात् जीवित के बलिदान में संनिहित है। इसीलिए सर्ग-रचना कहीं-थ्मिर, कहीं पान-कु और कहीं पुरुष की बलि से बताई गई है। बलि के लिए की गई हिंसा न होकर उलटी उत्पादक बन जाती है। या यों कहिये कि वध के समय वध्य के अभ्यन्तर सर्ग-शक्ति इतनी अधिक प्रोद्भूत हो चुकती है कि वह उसके घात द्वारा उसमें से फटकर इधर-उधर हो उठती है और उससे रचना-संतति प्रवृत्त हो जाती है।

बलिदान से सर्ग-रचना होने की भावना विश्वजननीन है; विशेषतः समाज के उन वर्गों में, जिनका कृषि के साथ सीधा संबंध है। भारत के आदिवासी खोण्ड लोगों में मेरिया और अझटकेक्स लोगों में युवती की बलि उदाहरण के लिए पर्याप्त है।

मेरिया अपनी इच्छा से वध्य बनता है। उसे विवाह करने और संतान उत्पन्न करने की अनुमति होती है और वह जीवन की अशेष सुविधाएँ भोग सकता है। किंतु उसे आरंभ से ही उस देवता का स्वरूप मान लिया जाता है जिसको कि बलि चढ़ाई जानी होती है। लोग मेरिया की पूजा करते हैं, उसके चारों ओर नृत्य करते हैं और रंगरलियाँ मनाते हैं। बाद में वे भूदेवी से प्रार्थना करते हैं- "ओ देवी! हम तुम्हें यह बलि चढ़ाते हैं।" और तब वे वध्य मेरिया से कहते हैं- "हमने तुम्हें खरीदा है, जबर्दस्ती नहीं पकड़ा। अब हम तुम्हें बलि चढ़ाते हैं, हमें पाप नहीं लगना चाहिए।" बलि के दिनों भरपूर नाच-रंग चलता है। समय आने पर वध्य को अफ़ीम देकर बेहोश कर दिया.जाता है और तब उसे मार दिया जाता और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं। ये टुकड़े हर गांव में बांट दिये जाते हैं, जो कि उन्हें अपने खेतों में गाड़ देते हैं। शेष भाग को जला दिया जाता और उसकी राख को जमीन पर बिखेर दिया जाता है। साफ़ तौर से इस बलि में आदि-पुरुष की उस बलि के लक्षण मिलते हैं, जिससे कि इस सर्ग की रचना हुई थी।

अझटेक लोगों में खिलोनन नाम की युवती को बलि चढ़ाया जाता था, जो कि मक्का और ज्वार आदि की प्रतीक होती थी। लक्ष्य उसका भी वही था जो कि आदि-पुरुष की बलि का; भले ही उसका प्रकार एवं स्तर कितना ही ओछा एवं क्षुद्र क्यों न रहा हो।

स्मरण रहे कि धरती जहाँ सौख्यदायिनी अन्नपूर्णा माता है वहाँ साथ ही वह भयावह देवी भी है और अपने उस भयावह रूप में वह मृत्यु की देवी है। अपने मृत्युरूप में भी धरती-देवी भूत-जात की जननी है, क्योंकि भूत-मात्र का गर्भ उसी में है। एक बात और; भले ही हम लोगों की दृष्टि में मृत्यु एक भयावह देवता हो; किंतु आदि-मानव की दृष्टि में मृत्यु जन्म ही का दूसरा नाम था, क्योंकि उसकी दृष्टि में मृत्यु जन्म का ही दूसरा पक्ष था। फलतः जहाँ धरती सब भूतों की जननी होने के कारण पूजा की पात्र थी वहाँ वह प्राणिमात्र की मृत्यु-देवता होने के कारण भी मानवमात्र की पूजनीय समझी जाती थी।

यहाँ तक हमने देवकथा के उद्‌भव ओर उनके मूल तत्वों एवं घटकों पर विचार किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मानव स्वर्ग की स्मृति में तड़पता हुआ फिर उसी की ओर लौट जाना चाहता है और किस प्रकार वह स्वर्ग में बसनेवाले देवताओं की कथाओं को कहता, सुनता और उनके माध्यम से एक बार फिर स्वर्ग में पहुँच जाना चाहता है। और क्योंकि स्वर्ग द्यु-स्थानीय है, इसलिए मानव ने द्यु-संबंधी देवताओं की कल्पना की, जिन्होंने कि इस जगत् को रचना था और जो इसे आज भी संभाल रहे हैं। किंतु शक्ति के देवताओं की कल्पना की, और कालक्रमात् इन देवताओं ने द्यु-स्थानीय देवताओं को पीछे धकेल दिया। दूसरी श्रेणी के इन देवताओं से ऐसे देवताओं का आविर्भाव हुआ जो कि मानव के बहुत पास थे और जिन्हें वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जब चाहता था, बुला लेता था। वैदिक देवशास्त्र के अंत में आनेवाले देवता इसी कोटि के हैं। भूतमात्र की माता होने के कारण धरती को भी देवी माना जाता था और जहाँ वह एक ओर अन्नपूर्णा देवी थी वहाँ दूसरी ओर वह मृत्यु की भी देवी समझी जाती थी।

वैदिक देवशास्त्र में देवताओं के उत्थान का क्रम कुछ इसी प्रकार का रहा है: और यद्यपि उसमें अनेक द्यु-स्थानीय, अंतरिक्ष-स्थानीय एवं पृथिवी-स्थानीय देवताओं का विवेचन हुआ है, फिर भी उसी प्राचीन युग में वैदिक ऋषि इन अनेक देवताओं के पीछे एक व्यापक देवता की कल्पना कर चुके थे, जो वास्तव में एक था, किंतु नाम जिसके अनेक थे। इस प्रकार वैदिक ऋषि अनेकता से चलकर एकता के बिंदु पर आ पहुँचा था और इस तत्वज्ञान के द्वारा उसने एकता को खंडित करने वाली माया (मा अवखंडने) का निराकरण कर लिया था। उसकी दृष्टि में शिव से पृथक् हुई शक्ति शिव से जा मिली थी और इस शिव और शक्ति के संमिलन के दर्शन में ही मानवीय जीवन की इतिश्री है।

पुरातत्व के प्रकाश में देवकथा

किंतु पुरातत्वानुसंधान की दृष्टि से देवकथज्ञ का आरंभ द्यु-स्थानीय देवताओं से न होकर पृथ्वी-स्थानीय धरती-देवी के साथ हुआ है, जो कि भूतमात्र की जननी एवं धात्री है और जिसमें भूतमात्र को मृत्यु के उपरांत समा जाना है। पुरातत्व के अनुसार द्यु-स्थानीय देवताओं का विकास बाद में होता है और कुछ काल तक स्त्री और पुमान् दोनों कोटि के देवता चलते और बाद में एक पुमान् देवता ही सबका मूर्धन्य बन जाता है, यहाँ तक कि वह अन्य सभी देवताओं को आत्मसात् कर लेता है; जैसा कि यहूदी यह्वेह, अहुर-मज्दा और मिथ्रास की कथाओं से व्यक्त होता है।

इस प्रसंग में निकट-पूर्व एवं उसके आसपास के क्षेत्रों में विकसित हुए देवी-देवताओं के विकास पर एक विहंगम दृष्टि दौड़ा लेनी आवश्यक प्रतीत होती है।

इस बात पर आज के विद्वान सहमत हैं कि उन सभी सभ्यताओं का जन्म मेसोपोटामिया, एशिया माइनर, सीरिया, ईरानी प्लेटो और मिश्र में हुआ था, जिनसे कि आगे चलकर, ईसा से 5000 बरस पहले उत्तर-पाषाण युग एवं ताम्रपाषाण युग में, जब कि मानव शनैः-शनैः पाषाण को छोड़कर धातुओं के प्रयोग पर आ रहा था, ऐतिहासिक एवं अर्ध-ऐतिहासिक सभ्यताएँ निकली थीं। जेरिखो एवं उत्तरी ईराक के कलात जरमो नामक स्थानों के निरीक्षण से तो ज्ञात होता है कि पलस्तीन और

मेसोपोटामिया में ईसा से 6000 बरस पहले एक प्राङ्मृत्पात्र उत्तर-पाषाणयुगीन सभ्यता उभर चुकी थी, जिसमें शव-संस्कार एवं उर्वरता से संबद्ध कर्मकांड का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका था।

हाल के कुछ बरसों में मेसोपोटामिया, मिश्र एवं पश्चिमी एशियाई सभ्यता के विषय में हमारे ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई है और इस बात का निश्चय हो गया है कि धर्म का विकास कृषि के माध्यम से और उसी के चहुं ओर हुआ है; विशेषतः मानवीय विकास के उस स्तर पर जब कि वह शिकार से हटकर खेती पर आ रहा था और उसके साथ-साथ पशुपालन का धंधा भी किया करता था। और उस परिस्थिति में जब कि जीविका का आधार शिकार था, मछली पकड़ना था और फल एवं कंदमूल थे। यह बात स्वाभाविक थी कि मानव का ध्यान जीवन में दीख पड़नेवाली मातृता, जनन, एवं वर्धन की ओर आकृष्ट होवे और इन सबसे बढ़कर मृत्यु की ओर जिसे वह प्रतिदिन आती देखता था किंतु जिसके आने पर वह हैरत में पड़ जाया करता था।

प्रतिदिन सामने घटने वाली इन प्राकृतिक एवं मानवीय घटनाओं के चहुं ओर जादू-टोना-रञ्जित कर्म-काण्ड का उभर आना स्वाभाविक था, जिसके द्वारा मानव इन घटनाओं पर अपना नियंत्रण रखना चाहता था।

संक्षेप में निकट-पूर्वीय प्राचीन सभ्यता की प्राक्-पाषाणयुगीन पृष्ठभूमि को देखकर कहा जा सकता है कि उस काल के मानव का कर्म-कांड उर्वरता एवं जन्म-मरण के आधार पर खड़ा हुआ था।

मानव की जीवन-संबंधी यह उत्कट भावना जीवन-प्रसविनी माता की प्रतिमा के रूप में अथवा उसके विविध अंगों, गुणों एवं कृत्यों की पूजा के रूप में प्रकट हुई। ईसा से लगभग 7000 बरस पहले विकसित हुई कृषि एवं पशुपालन के स्तर पर जनन आदि की देवी ने ईश्वरवाद का जामा पहनना आरंभ कर दिया था। बाद में जब, संभवतः स्टाक-जनन के कारण, जनन-क्रिया में पुमान् को अधिकाधिक महत्व मिलने लगा तब मातृ-देवी को पत्नी के रूप में पुमान् की सहायिका समझा जाने लगा और कालक्रमात् आकाश-पिता को धरती-माता का पति समझा जाने लगा।

मिश्र में फेरोआह के (आकाश) पिता के रूप में पुमान् सूर्यदेव ने अपना महत्व अक्षुण्ण बनाए रखा और कभी भी उसे देवी के हाथों निर्बल न होने दिया-क्योंकि मिश्र में जीवन का स्रोत सूर्य को माना जाता था न कि किसी देवी को। फलतः सूर्यदेव और फेरोआह अपना-अपना काम अपने निजी बल से करते थे न कि मेसोपोटामिया की तरह किसी देवी के माध्यम से। यहाँ तक कि हथोर भी, जो कि गो-देवी है, होरस ज्येष्ठ की माता और उसकी पत्नी के रूप में उभरती है। जन्म की प्रमुख देवी होने के नाते पहले-पहल हथोर होरस ज्येष्ठ की माता थी; पत्नी वह उसकी तब बनी थी जबकि उसे ओसिरिस का तादात्म माना जाने लगा था।

मिस्र में जीवन के पुनर्भाव को मातृ-देवियों का काम समझा जाता था, किंतु मेसोपोटामिया की तरह वहाँ उन्हें जीवन का प्रभव नहीं माना जाता था। इसी प्रकार सर्ग-रचना भी मिस्र में पुरुष-देवों से, अर्थात् रे-अतुम, प्ताह, अथवा ख्नुम से मानी जाती है; नुत और हथोर देवियों के हिस्से में तो जीवन को पुनः बनाना-मात्र रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी एशिया में, मेसोपोटामिया, एजियन ओर ग्रीस में जीवित-मात्र का प्रभव पृथिवी-माता को माना जाता था-और पतझड़ का कारण इस बात को बताया जाता था कि धरती-माता ने अपना पुत्र मर जाने के कारण दुनिया की ओर से अपना हाथ खींच लिया था। सीरिया और क्रीट में भी मातृ-देवी का महत्व अक्षुण्ण बना रहा। समस्त एजियन एवं पूर्वी भूमध्य-सागर में भी देवी-संप्रदाय बराबर चलता रहा।

मध्यभूमि पर झीयस ने योरपा को क्रीट ले जाने के उद्देश्य से वृष का रूप धारण किया, जहाँ पहुँचकर योरपा मिनोस की माता बनी। उसकी पत्नी पसिफए ने वृष के साथ संसर्ग के लिए अपने आपको गोचर्म में ढक लिया और वृष के संसर्ग से मिनोटोर को जन्म दिया। चंद्र की देवी सेलन को, जो कि सूर्य की पुत्री है और जिसके साथ पसिफए का संबंध है, श्रृंग वाली गो-देवी के रूप में प्रदर्शित किया गया है, और कथा में आनेवाला वृष आकाश-देव है जो कि उर्वरता का देवता है। संक्षेप में ग्रीस में मैथुन-प्रदर्शन के द्वारा जीवनदायी शक्तियों को सक्रिय बनाने की परिपाटी थी और इसी मैथुन के प्रतीक हैं-गौ और वृष, धरती और

आकाश, चंद्रमा और सूर्य। प्रतीकोत्थान की इस प्रक्रिया के माध्यम से उर्वरण एवं परिवर्धन से संबद्ध कर्मकांड का उत्थान एशिया माइनर, सीरिया, बेबिलोनिया, मिस्र, पूर्वी भूमध्यसागर, क्रीट और एजियन प्रदेश में विकसित हुआ। क्रीट-माइसिनी प्रदेश में पुं-देव बहुत कम दीख पड़ते हैं, जबकि स्त्री-देवियाँ प्रचुर संख्या में पाई जाती हैं। सच पूछिये तो विश्व-जनीन मातृ-देवी यहाँ अनेक रूपों में मिलती है, किंतु युवा पुं-देव उसका भाई, पति, अथवा पुत्र बनकर सामने आता है।

निःसंदेह उत्पादक शक्ति का केंद्र पुं-देव को मानने के साथ-साथ देवी के महत्व में कमी आती गई, किंतु पश्चिम एशियाई पूजा-परिपाटी फिर भी निकट-पूर्ववर्ती दोला-खंड से एनालोलिया ओर एजियन में और वहाँ से आइबीरियन पेनिनसुला और उत्तर-पश्चिम की ओर योरोप में फैलती ही गई, जहाँ कि इसका संबंध महापाषाण संस्कृति के साथ हुआ। टाइग्रीस से सिंध तक के अपने प्रसार में पश्चिमी ईरान की उपत्यका एवं घाटियों के साथ-साथ के टिब्बों पर से एलबुर्ज, मकरान और बलूचिस्तान के उच्च क्षेत्रों पर होती हुई सिंध और पंजाब के प्रदेशों में धरती-माता के रूप में स्त्री-देवी अपने महत्व को अक्षुण्ण बनाए रहीं; और प्राग्-आर्यन परिवर्धन-पूजा ग्राम-देवियों की पूजा के रूप में समस्त भारत में फैली और बनी रही; और वह भी बहुत कुछ उसी तरह जैसे कि वह पश्चिमी ऐशिया में उभरी और प्रचलित हुई थी, जिसमें कि पुं-देव प्रायः द्यौष्पितर् के रूप में धरती-माता के साथ सक्रिय हुआ करता था।

और ज्यों-ज्यों मातृ-देवी की यह पूजा प्राचीन कृषि-सभ्यता में दक्षिण-पश्चिमी एशिया से मिस्र, पश्चिमी योरोप और भारत की ओर फैलती हुई त्यों-त्यों मातृ-देवी एक समन्वयात्मक देवी का रूप धारण करती गई और मातृत्व, जनन एवं उर्वरता की सभी देवियों का स्थान लेती गई। आइसिस देवी इस बात का उदाहरण है, जिसने कि साइट और ग्रीक युग में देवताओं की माता बन जाने के साथ-साथ तत्तद्देशों की अशेष देवियों को आत्मसात् कर लिया था और कालक्रमात् वह देवी-मात्र की प्रतिनिधि बन गई थी; और उसके नाम पर ग्रीक और रोमन जगत् में, माल्टा, सार्दीनिया, फ़ोनीशिया और दक्षिणी इटली में, यहाँ तक कि स्वयं रोम में भव्य मंदिर उभर आए थे।

समन्वय वृत्ति की आदर्श यह देवी कालक्रमात् एक साथ अत्यन्त आकर्षक एवं अत्यधिक पराक्षेपक रूप में जगत् के संमुख उभरी। फलतः जहाँ एक ओर भिन्न-भिन्न देशों की जनता माता के रूप में उसकी पूजा करती थी वहाँ वे सभी लोग उसके भयावह रूप को देख-कर उससे भय भी खाया करते थे। हमारे देश में काली माता इस बात का सुंदर निदर्शन है।

ओर यदि एक ओर जनन, संवर्धन एवं मरण की आधार-भूमि पर खड़ी हुई मातृ-देवी संसार की सभी देवियों को आत्मसात् करती हुई एक अतुल देवी के रूप में प्रभ्राजित हुई तो दूसरी ओर जगत् की रचना पर ध्यान जाते ही आदमी ने इस जगत् के आदि-स्रष्टा परमात्म-देव की उद्भावना कर डाली; और अब विकसित हुई जगती के अधिष्ठाता वरुण जैसे पुमान् देव, जिन्होंने अपनी शक्ति से इस जगत् को रचना था और जो इसके अनिशित अधिष्ठाता थे। पुं-देव की महत्ता में धीरे-धीरे चार चांद लगे; फलतः अब मातृ-देवियों के सभी लक्षण और उनकी सीर ही विशेषताएँ इस कोटि के पुं-देवों में समाती चली गईं; यहाँ तक कि आकाश के अधिपति होरस को सृजन, जनन, पुनरुद्भावन आदि सभी बातों का देवता माना जाने लगा और पीरामिड-लेखों में उसी को जीवन, वर्षण, प्रजनन और पुनर्जन्म का और फेरोआह की पवित्रता का उद्भव बताया गया। किंतु मूलतः वह आकाश का देवता था। और यद्यपि आदि मानव-समाज का ध्यान पहले-पहल अपनी भोज्य-सामग्री एवं उसके उपकरणों पर गया और उनके प्रसंग में उसने अनेक देवियों की उद्भावना कर डाली, तथापि भोज्य की ओर से निश्चिंत हो जाने पर ज्यों ही उसका ध्यान जगत् के सृजन की ओर गया त्यों ही उसने उसके स्रष्टा एक परमात्म-देव की कल्पना कर डाली।

सभी जानते हैं कि हेलियोपोलस में प्रथम राजवंश से पूर्व रे की सूर्य-देव के रूप में पूजा चल पड़ी थी, किंतु जब उसका अतुम के साथ समन्वय हो गया तब उसे प्रकृति की अशेष शक्तियों, विभूतियों एवं उत्पादक शक्तियों का स्रोत माना जाने लगा, यहाँ तक कि कालक्रमात् वह सभी देवताओं का मूर्धन्य बन गया।

मिस्र की अपेक्षा मेसोपोटामिया का इतिहास कहीं अधिक छितरा हुआ है-क्योंकि यहाँ एक के बाद दूसरी जातियाँ आती रहीं और अपनी-अपनी संस्कृतियों को लाती रहीं। ईसा से 3000 बरस पहले सुमेरियन लोग इस देश में आये और अनु के अधीन एक देव-वर्ग को साथ लेते आए। अनु का अर्थ 'आकाश' है; और नाम इसके वही हैं जो ग्रीस में झीयस के और रोम में जूपिटर के थे। नम्मू, जो कि आदि-समुद्र का नाम है, उसने जगत् को रचकर धरती और आकाश को सिरजा, जिनका अनु ने तुच्छ में से उद्धार किया और इसके द्वारा जगत् में समञ्जन पैदा किया-क्योंकि आकाश में उसकी सत्ता परम थी, वह देवी-देवताओं का पिता था और अशेष जगती के राजा-रानियों का आदर्श था। उसका स्थान वाद में माडूक ने ले लिया और तब सारे देवताओं ने अपनी शक्तियाँ उसे सौंप दीं। एनलील, जो कि झंझा का देवता था, तूफ़ान पैदा करके मानव-समाज से परमेश्वरीय नियमों का पालन कराता था।

एआ अथवा एनकी, जो कि धरती और पाताल का स्वामी था, मानव का उपकारी देवता था। सलिल और समझदारी का देवता होने के नाते वह प्रतिभा, विद्वत्ता, दूरदर्शिता आदि का अधिष्ठाता था और उसी ने उतनपिश्तम को भावी महा-जल-प्लावन की सूचना दी थी और एक नौका बनाकर उसमें बैठ अपने आपको बचा लेने की सलाह दी थी। एआ ने अपनी बुद्धिमत्ता माडूक को दे दी और माडूक ही आगे चलकर देवताओं का मूर्धन्य बना।

इजराइल में यह्वेह सत्ता एवं शक्ति का परम अधिदेव बनकर उभरा, जो कि बादलों पर उड़ता, वर्षा बरसाता, बिजली में चमकता, तन्यतु में गरजता, और इतर देवताओं और दैत्यों से युद्ध करता है। धरती को उसी ने रचा है और विश्व में ऋत का प्रसार भी उसी ने किया है। युद्ध में उसने मृत्यु पर भी विजय पाई है। इज़राइल के लोग अन्य देवताओं की भी पूजा करते थे, किंतु जातीय मुसीबत आ पड़ने पर वे सदा यह्वेह ही की शरण लेते थे, जैसा कि ईसा से 600 बरस पूर्व देश-निकाले के समय उन्होंने किया था। पलस्तीन ने यह्वेह के रूप में एक-देववाद की प्रतिष्ठा की और बाद के युगों में मानव को एक देवता की पूजा करना सिखाया, भले ही वह देव यह्वेह हो, अहुर-मज्दा हो, अथवा

सूर्य हो। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि यहूदी, ग्रीक और रोमन देवताओं में एकता आ गई और इन देशों के देवता या तो एक बन गये और या उनमें मौलिक समञ्जन पैदा हो गया।

यह हुई निकट-पूर्वीय देवी-देवताओं के उद्भव और विकास पर एक ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि, जिसके अनुसार मानव ने पहले-पहल देवियों की कल्पना की और बाद में देवताओं की, जो अंततोगत्वा सत्ता एवं शक्ति के परम अधिष्ठाता संपन्न हुए। किंतु संभव है देवताओं की कल्पना में क्षेत्र-विशेष के आदमी पहले देवियों की कल्पना करते रहे हों और इतर क्षेत्रों के आदमी पहले पुं-देवता की कल्पना करते रहे हों। कुछ भी हो वेद में प्रधानता पुं-देवताओं को दी गई है और उनमें भी द्यु-स्थानीय देवताओं को। परिणाम इसका यह निकल सकता है वैदिक देवशास्त्र का अभ्युदय ऐसे काल में हुआ था जब कि आर्य लोग देवी-पूजा से हटकर पुं-देवताओं की पूजा पर आ चुके थे-और निश्चय ही यह काल मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया आदि देशों के देवशास्त्रीय विकास को देखते हुए ईसा से 3000 बरस पहले के आसपास का ठहरता है।

वैदिक देवताओं के चारित्रिक स्तर की उच्चता से भी इस बात की पुष्टि होती है। क्योंकि जहाँ एक ओर निकट-पूर्वीय देशों के देवी-देवताओं का चरित्र आज के मानदंड से देखने पर कुछ ढीला-ढाला सा प्रतीत होता है वहाँ वैदिक देवताओं का चरित्र आज के मानदंड की दृष्टि से भी अत्यन्त उच्च कोटि का ठहरता है।

हमारी समझ में वैदिक देव-विकास का काल ऐसे युग में रखा जाना चाहिये जब कि देवियों की पूजा ह्रास पर थी और पुं-देवताओं की पूजा उत्कर्ष पर।" (वैदिक देवशास्त्रः सूर्यकांत)

प्राचीन भारतीय वाङ्मय वेद, उपनिषद् व पुराण में सूर्य की उपासना का प्रमुख स्थान रहा है। अथर्व वेद में उल्लेख है-'आदित्यो देवता'; अर्थात् आदित्य देवता हैं। उनके रूप सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है-

"षट् स्वरा रूढेन बीजेन षडङ्गं रक्ताम्बुज संस्थितम्।
सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वया भयवरद हस्तं
काल चक्र प्रणेतारं श्री सूर्य नारायणं
य एवं वेद स वै ब्राह्मणः।"

अर्थात् छः स्वरों पर आरूढ़ बीज के साथ, छः अंगों वाले, लाल कमल पर स्थित, सात घोड़ों वाले रथ पर सवार, हिरण्यवर्ण, चतुर्भुज तथा चारों हाथों में क्रमशः दो कमल तथा वर और अभयमुद्रा धारण किए, काल चक्र के प्रणेता श्री सूर्य नारायण को जो इस प्रकार जानता है, निश्चय पूर्वक वही ब्राह्मण (ब्राह्मणेक्ता) है।

प्रसिद्ध गायत्री मंत्र 'ऊँ भूर्भुवः स्वः। ऊँ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्' में भी उनके सच्चिदानंदमय, त्रिभुवनमय एवं सर्वश्रेष्ठ तेजमय रूप का वर्णन किया गया है।

ईशावास्योपनिषद् के सोलहवें श्लोक में वर्णित है-

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजाप्रत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणातमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।16।।"

यहाँ सूर्य को सबसे बड़ा पोषक और शोधक (शुद्धि) करनेवाला कहा गया है जो जीवन को उर्जा से भर देता है।

पुराणों में सूर्य की सर्वज्ञता, सर्वाधीयता, सृष्टि कर्तृता, काल चक्र प्रणेता आदि रूपों में वर्णन करते हुए इनकी उपासना का विधान किया गया है। ब्रह्म-पुराण, मार्कण्डेय पुराण व भविष्य पुराण में सूर्य की उत्पत्ति की कथाओं का वर्णन मिलता है। सूर्य की उत्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि संसार की उत्पत्ति के पहले सर्वत्र एकमात्र अंधकार ही भरा हुआ था-'तमः आसीत्'-श्रुति के अनुसार संपूर्ण दिशाएँ अवर्णात्मक तम से व्याप्त थीं। भगवान कश्यप (जिनका जन्म मरीचि

नाम के प्रजापति से हुआ) ब्रह्मा के समान तेजस्वी प्रजापति थे। उनकी पत्नी अदिति के उदर से ब्रह्माण्य का व्यापक गोला उत्पन्न हुआ। यह गोला अंधकार रूप तम से आच्छादित था। भगवान हिरण्यगर्भ का वह अध्यात्मक तेज इसी ब्रह्माण्ड-गोला के मध्य में आविर्भुत होकर संपूर्ण संसार के अंधकार का अंत कर डाला-

"यथा पुष्पं कदम्बस्य समन्तात् केसरैर्वृतम्।
तथैव तेजसो गोलं समन्ताद् रश्मिभिर्वृतम्।।

(-साम्बपुराण 7135)

प्रस्तुत ग्रंथ 'सूरज-पुराण' श्री सूर्य पुराण में 'सूर्य-उपासना व सूर्य-महात्म्य' से साम्य रखते हुए हैं। परंतु मूल पांडुलिपि व 'सूर्य-पुराण' में कई वैषम्य व पाठांतर भी लक्षित हैं। उल्लेख है कि यह कविवर आदित्य के अप्रकाशित 'सूर्यावलोकन' से उद्धृत है। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रथम अध्याय में भक्त-कवि तुलसीदास जी के नामोल्लेख करते हुए ग्रंथारंभ हुआ है। 'तुलसी-वाङ्मय' में ऐसे किसी ग्रंथ का नामोल्लेख नहीं हुआ है; और न ही इसके दोहे-चौपाई के गति, लय, छंद महाकवि के शैली के अनुसार हुआ है। अतः यह विद्वज्जनों के विचार का विषय है कि कविवर तुलसीदास जी का उल्लेख उनके अनुकरण हेतु हुआ है या प्रसंगवश हुआ है।

इस पुस्तक में त्रयोदश-अध्याय है व अंत में श्री सूरज देव के व्रत महात्म्य से इसके चौदह अध्यायों में परिसमाप्ति हुई है।

प्रथम चार अध्यायों में सूर्य की महत्ता व स्तुति करने पर किन-किन लाभों की प्राप्ति होती है इनका वर्णन है। वैदिक ऋषियों का ध्यान भगवान सूर्य के गुणों की ओर विशेष रूप से गया था। जैसे अंधकार का नाश, दुःखों और रोगों का नाश, नेत्र-ज्योति की वृद्धि, आयु की वृद्धि, कुष्ठ रोग का क्षय आदि।

भारतीय परंपरा में प्रारंभ से ही सूर्य को कुष्ठ-रोग से मुक्त करने वाला देवता माना गया है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में इसका उल्लेख मिलता है। वहाँ सूर्य को सभी चर्म-रोगों तथा अन्य अनेक

भीषण रोगों का विनाशक बताया गया है। यह धारणा न केवल भारतीयों में बद्धमूल थी, अपितु प्राचीन काल से ही पारसियों में भी मान्य थी। हेरोडोरस के इतिहास की प्रथम पुस्तक में उल्लेख मिलता है-"What so ever one of the citizens has leprosy or the white (leprosy) does not come into city, nor does he mingle with the other Persians. And they say that he contracts these diseases because of having committed some sin against the Sun." (Quackenbos, Sanskrit poems of Mayara, P.35)

आज भी भारतवर्ष में कई स्थानों पर इस प्रकार की धारणा प्रचलित है कि सभी प्रकार के चर्म रोगों का विनाश आदित्योपासना से हो जाता है। अयोध्या के निकट सूर्यकुंड नामक एक जलाशय है जिसका संकेत इस ग्रंथ में मिलता है। जनश्रुति है कि उस कुंड में स्नान करने से सभी प्रकार के चर्मरोगों का विनाश हो जाता है।

चतुर्थ अध्याय में अंधे को लोचन प्राप्ति की कथा वर्णित है। छंदोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद में अक्षि पुरुष विद्या प्रकरण में चक्षुर्मण्डल तथा सूर्यमंडल में अभेददृष्टि रखकर उपासना करने का वर्णन मिला है। नेत्र रोगों को दूर करने के लिए पुराणोक्त नेत्रोपनिषद या यजुर्वेदीय चाक्षुणोपनिषद जप करने का विधान भी मिलता है। ये दोनों ही उपनिषदें चक्षुष्मती विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं, परंतु इनके प्रयोग में भिन्नता मिलती है।

अगले दो अध्यायों में सूर्य-पूजा के परिणाम आदि का वर्णन किया गया है। इस पुराण में शिव का सूर्य से तादात्म्य भी दिखलाया गया है। स्वयं शिव ने सूर्य की उपासना को श्रेयस्कर कहा है। रोचक कथा है कि अकबर ने आदेश निकाला था 'प्रातः, मध्याह्न, सायं व अर्द्धरात्रि-चार बार सूर्य की पूजा होनी चाहिए।' वह स्वयं सूर्य के अभिमुख होकर उसके सहस्र नाम का पाठ एवं पूजन करता था। जहाँगीर भी अकबर द्वारा सम्मानित सौर संवत् को राजकीय आय-व्यय की गणना के लिए प्रचलित रखा था। (आइन-अकबरी, ब्लाखमैन का अंग्रेज़ी अनुवाद, 1965, पृ.209-212)

सप्तम अध्याय में राजा परीक्षित की कन्या को देख नारद के मोहित होने की मनोरंजक कथा का वर्णन है। नारद को कुष्ठ रोग का श्राप व सूर्य देव की उपासना के फलस्वरूप रोग नाश की रोचक कथा है।

अष्टम अध्याय से द्वादश अध्याय तक सूर्य के रथ और उसकी गति, नीचे के लोकों का पौराणिक पद्धति में रोचक और कौतुहलपूर्ण वर्णन है। भागवत् में वर्णन है कि सूर्य उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् मार्गों से क्रमशः मंद, शीघ्र और समान गतियों से चलते हुए समयानुसार मकरादि राशियों में ऊँचे-नीचे और समान स्थानों में जाकर दिन-रात को बड़ा-छोटा या समान करते हैं। इस प्रकार दक्षिणायन आरंभ होने तक दिन बढ़ते रहते हैं और उत्तरायण लगने तक रात्रियाँ।

पण्डित जन मानसोत्तर पर्वत पर सूर्य की परिक्रमा का मार्ग नौ करोड़ इक्यावन लाख योजना बताते हैं। उस पर्वत पर मेरु के पूर्व की ओर इंद्र की देवधानी नाम की पुरी है, दक्षिण की ओर यमराज की संयमनी पुरी तथा पश्चिम में वरुण की निम्लोचनी नाम की पुरी और उत्तर में चंद्रमा की विभावरी पुरी है। इन पुरियों में मेरु के चारों ओर समय-समय पर सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और अर्धरात्रि होते रहते हैं।

नवम अध्याय में जिस सरोवर का वर्णन है उसकी साम्यता गया के विष्णुपद के मंदिर से करीब 175 गज उत्तर 95 गज लंबी और 60 गज चौड़ी दीवार से घिरा हुआ सूर्यकुंड नामक एक सरोवर। उसके चारों ओर नीचे तक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। कुंड का उत्तरी भाग उदीची, मध्य का कनखल और दक्षिण का दक्षिण मानस तीर्थ कहा जाता है। तीनों स्थानों पर तीन वेदियों में अलग-अलग पिंडदान होते हैं। सूर्यकुंड के पश्चिम में एक मंदिर में सूर्यनारायण की चतुर्भुज मूर्ति खड़ी है, जिसको दक्षिणार्क कहते हैं। पुरी समुद्र के क़िनारे कोणार्क सूर्यमंदिर का भी संकेत हुआ है जहाँ साम्ब ने कोणादित्य की साधना की थी और सूर्य-मूर्ति स्थापित की थी।

इस कलियुग में भी देवगण कृपा करते हैं तथा समय पड़ने पर वे साक्षी भी देते हैं। 'भक्तमाल' में वर्णित प्रसिद्ध श्रीजगन्नाथ धाम के पास श्री साक्षी गोपाल जी के मंदिर के विषय में तो सभी जानते ही हैं।

कल्की अवतार के रूप में जन्म लेकर कलियुग के वासियों के शोक-ताप हरण की कथा का वर्णन है। अंत के अध्याय में व्रत के नियमादि का वर्णन है। स्कंदपुराण, आदित्य हृदय, अग्निपुराण में इस व्रत के सामान्य नियमों का वर्णन मिलता है। सूर्योपासना के व्रत का नियम प्रायः सर्वत्र प्रचलित हैं, वे हैं-व्रत रविवार को करे, व्रत के दिन लवण सर्वथा वर्जित है, दिन में बिना नमक के एक बार भोजन, प्रायः मिष्टांन्न भोजन का प्रचलन है, अन्न सात्विक व एक ही अन्न हो, रात्रि में जल का ग्रहण वर्जित, फलाहार का उपयोग उत्तम व संकटापन्न स्थिति में निर्जला-उपवास किया जाना चाहिए। मार्गशीर्ष में चंदन, अक्षत, धूप, दीप से दशादित्य व्रत, पौषमास में मार्तण्ड-सप्तमी व्रत, माघ मास में मंदार-षष्ठीव्रत, भानु-सप्तमी, फाल्गुन मासीय अर्कपुट सप्तमी व्रत करने का प्रचलन है जिसमें विशेष प्रकार के भोजन करने का विधान है।

वेदों में सूर्य:

धर्म के अंदर, उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में एक ओर तो मानव द्वारा समादृत दिव्य अथवा अतिभौतिक शक्तियों के विषय में उसकी भावनाएँ आती हैं, और दूसरे ओर मानव-कल्याण के उन शक्तियों पर निर्भर होने की उसकी भावना, जिसकी अभिव्यक्ति पूजा के विविध रूपों में होती है। देवशास्त्र का संबंध धर्म के प्रथम पक्ष के साथ है; क्योंकि यह शास्त्र उन सभी गाथाओं अथवा कहानियों को प्रस्तुत करता है जो देवताओं एवं वीरों के विषय में कही गई है ओर जिनमें उनके स्वरूप एवं उद्‌भव, उनके कृत्य एवं परिस्थितियों का विवरण उघड़ता है। इस प्रकार की गाथाओं का उद्‌भव विज्ञानशून्य आदि-काल में उत्पन्न हुए मानव के उन प्रयासों में निहित है जो उसने अपने सम्मुख प्रवर्तमान प्राकृतिक शक्तियों एवं दृश्यों की व्याख्या के रूप में किये थे। सच पूछो तो इन गाथाओं को आदि-काल के मानव का मन-गढंत विज्ञान कह दें तो अनुचित न होगा; क्योंकि वे उक्तियाँ, जो एक सुविकसित मानव के लिए रूपक के अतिक्ति और कुछ नहीं होतीं, आदिकालीन मानव के लिए दृश्यमान घटनाओं की यथार्थ व्याख्या बन जाती हैं। और वे बौद्धिक समस्याएँ जो कि गगन-पिण्डों के पथ, बादलों की गर्जन, और सुदूर

स्थित जगत् के उद्भव एवं उसकी रचना के विषय में की गई ऊहापोह से पैदा होती हैं, इन कहानियों के रूप में अपना हल पाती हैं। इन गाथाओं का मूल मानव-मन के उस आद्यकालिक अभिवेग में है, जिससे वह अशेष प्रकृति को चेतन इकाइयों का एक निकाय समझता आया है। सच पूछो तो एक गाथा का जन्म होता ही तब है जबकि मानव अपनी कल्पना से एक प्राकृतिक घटना को मानव जैसे शरीरी देव का कार्य बताकर उसकी व्याख्या करता है। उदाहरण के लिए इस बात को लीजिए-हम देखते हैं कि चंद्रमा सूर्य के पीछे भागता है; किंतु वह उसे पकड़ नहीं पाता। यही बात एक गाथा के रूप में बदल जाती है, जबकि चंद्रमा को हम एक कुमारी और सूर्य को एक मानव समझें और कहें कि एक कुमारी एक मानव का पीछा करती है और वह मानव उसका तिरस्कार करता है। ज्यों ही इस प्रकार की गाथा कल्पना-भरित मानव-वर्ग की संपदा बनती है, त्यों ही वह काव्य-अलंकार के स्तर पर आ लगती है; और जैसे-जैसे यह गाथा एक मुँह से दूसरे मुँह पहुँचती है, तैसे-तैसे आख्यायक की सूझ से उपजी छटाएँ उसमें मिलती जाती हैं। नई-नई छटाओं में मिलकर गाथा के आधारभूत प्राकृतिक दृश्य धूमिल पड़ते जाते हैं और उनका स्थान मानवीय कल्पना का विस्तृत एवं मनोरंजक निरूपण लेता जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान में जब एक गाथा प्राकृतिक आधार स्मृति से उतर जाता है, तब उसके मौलिक तात्पर्य से असंबद्ध नई बातें उस गाथा में जोड़ दी जाती हैं और कभी-कभी तो ऐसी नवीन बातें दूसरी गाथाओं से लेकर इस पर लाद दी जाती हैं जिनका असल में प्रस्तुत गाथा के साथ कोई भी संबंध नहीं रहा था। और जब एक गाथा अपने इस प्रकार से बढ़े-चढ़े रूप में हमारे सम्मुख आती हैं तब हो सकता है कि उसमें आनुषङ्गिक प्रक्षेप इतनी अधिक मात्रा में डाल दिए गए हों कि उस गाथा का उचित विश्लेषण करना हमारे लिए न केवल अत्यन्त कठिन अपितु असंभव ही बन जाए। उदाहरण के लिए-यदि हमें यूरिपिडीज़ के नाटकों में आये नृरूपधारी देवताओं ही का ज्ञान हो तो हमारे लिए ग्रीक देवताओं के स्वरूप और उनके कार्यकलाप के मूल आधार-प्राकृतिक तत्वों को खोज निकालना कठिन होगा।

धार्मिक इतिहास के अध्ययन में वैदिक देवशास्त्र का अपना निराला ही महत्व है। इसके प्राचीनतम स्रोत (ऋग्वेद) में हमें प्रकृति के मानवीकरण और उसकी उपासना पर आधृत धार्मिक विश्वासों का, विश्व के अशेष साहित्यिक स्मारकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन स्तर प्राप्त होता है। और इसी प्राचीनतम भूत से हमें वर्तमान भारतीयों की विशाल बहुसंख्या के धार्मिक विश्वास-बीजों का अनवच्छिन्न रूप से प्रस्फुटन होता दीख पड़ता है। स्मरण रहे कि भारोपीय जाति की भारतीय शाखा ही ऐसी शाखा है, जिसकी परंपरागत मौलिक पूजा-प्रक्रिया को कुछ सदियों पहले तक विदेशी एकेश्वरवाद न दबा सका था। ध्यान रहे कि भरसक प्रयत्न करके भी वैदिक देवशास्त्र का प्राचीनतम स्तर उतना अधिक आदिकालीन नहीं बन पाता है, जितना कि किसी समय इसे समझा जाता था; किंतु इस बात में संदेह नहीं कि यह इतना आदिकालीन अवश्य है कि इसमें हमें मानवीकरण की वह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से काम करती दीख पड़ती है जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य देवताओं के रूप में परिणत हुए थे। यह प्रक्रिया अपने इस रूप में हमें विश्व के अन्य किसी भी साहित्य में नहीं मिलती। वैदिक देवशास्त्र और उसी के साथ वैदिक भाषा, इतनी स्वच्छ और पारदर्शक है कि उसमें हमें बहुधा एक देवता का उसके भौतिक आधारवाले नाम के साथ सबंध स्पष्ट दीख जाता है। इतना ही नहीं, अनेक स्थलों पर तो इस मानवीय-रूप-रचना का आरंभिक रूप तक हमारे सामने आ जाता है। उदाहरण के लिए लीजिए उषा को--यह एक ऐसी देवता है जिसका मानवीकरण-रूप-परिधान अभी तक ढीला-झीना है। और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है, तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहुँ ओर के प्राकृतिक तत्वों से घुला-मिला रहता है।

वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीनकाल से वैदिक युग तक अविछिन्न चलते आए इस विश्वास में है, जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थों एवं प्राकृतिक दृश्यों को चेतन एवं दैवी मानता रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु जो मन में भय पैदा कर सकती थी, अथवा जिसके विषय में यह भावना बन जाती थी कि उसका मानव पर भला या बुरा प्रभाव पड़ सकता है न केवल मानव के लिए आराधना का विषय बन जाती थी अपितु वह

उसकी प्रार्थना के योग्य भी हो जाया करती है। फलतः आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी और पौधों तक की उपासना दिव्य शक्तियों के रूप में चल पड़ी थी और घोड़ा, गौ, शकुन-पक्षी एवं अन्य पशुओं का आह्वान किया जाने लगा था। यहाँ तक कि मानव के अपने हाथों बनाए पदार्थ, शस्त्र, युद्ध-रथ, ढोला-हल एवं कर्मकाण्ड के उपकरण-पाषाण एवं यज्ञस्तंभ आदि सभी की उपासना सामान्य बन गई थी।

किंतु उपासना के इस निम्न रूप का वैदिक धर्म में नाममात्र के लिए ही स्थान था। वेद के अपने देव तो यशःसंपन्न मानवी प्राणी हैं जो मानवीय उद्देश्यों एवं भावनाओं से प्राणित हैं और जो मानव की भांति उत्पन्न तो होते हैं पर मरते कभी नहीं। वे, बिना किसी भी अपवाद के, प्रकृति की एजेंसियों अथवा प्राकृतिक दृश्यों के दिव्यीकृत प्रतिरूप हैं। किंतु मानवीकरण की कोटियाँ उनकी अपनी अलग-अलग हैं। जब देवता का नाम वही रहता है, जो कि उसके प्राकृतिक आधार का है, तब व्यक्तिभाव, अपनी प्राथमिक अवस्था में रहता है। द्यौ, पृथिवी, सूर्य और उषस् उसी कोटि के देवता हैं-क्योंकि इन देवताओं के नामों से एक साथ प्राकृतिक दृश्यों एवं उन दृश्यों में विराजमान देवताओं का बोध होता है। ठीक यही अवस्था कर्मकाण्ड के दो बड़े देवता-अग्नि और सोम की भी है। यहाँ भी मानवीकरण की प्रक्रिया अग्नि तथा यज्ञिय पेय के दृश्य एवं स्पर्श्य रूपों द्वारा अवरुद्ध हो गई है, जिनके कि ये दोनों देवता दैवी रूप हैं। जब इन देवता का नाम उसके भौतिक आधार के नाम से भिन्न होता है तब वह (मूलभूत) भौतिक पदार्थ से दूर सरकता चला जाता है; क्योंकि ऐसी दशा में मानवीकरण की प्रक्रिया आसानी से आगे बढ़ चुकी होती है। उदाहरण के लिए लीजिए मरुद्गण को-ये वायु की अपेक्षा अपने मूल से कहीं अधिक दूर जा पड़े हैं, यद्यपि वैदिक कवियों को उनके पारस्परिक संबंध का ज्ञान अंत तक भी बना रहा है। और यदि इस नाम-भेद के साथ एक देवता वैदिक काल के पहले युग से चलता आया है तब तो यह पार्थक्य पूरा हो जाता है। उदाहरण के लिए वरुण को लीजिए। वरुण के विषय में इसके प्राकृतिक आधार का, वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीनकाल से आई गाथाओं की विशेषताओं से अनुमानमात्र हो सकता है; क्योंकि वरुण के विषय में भावात्मकता की प्रक्रिया इतनी अधिक आगे जा पहुँची

है कि वरुण का स्वरूप समुन्नत एक-देववाद के दैवी राजा जैसा बन गया है। फिर भी व्यक्तिरूप धारण करने की प्रक्रिया वैदिक देवशास्त्र में कहीं भी ग्रीक देवताओं में मिलनेवाले व्यक्तिभूत मानवीय रूप की अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाई है। वैदिक देवताओं को एक दूसरे से अलग करनेवाली विशेषताएँ इनी-गिनी हैं; बहुसंख्यक गुण और शक्तियाँ तो सब देवताओं में एक समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग या इकाइयाँ जिनके ये देवता प्रतिरूप हैं, अनेक बातों में समान हैं जबकि अभी ये देतवा मानव के रूप में पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। फलतः विद्युत के देवता का (विद्युत के रूप में), अग्नि देवता का और तूफानों के देवता का वर्णन समान भाषा में संभव है; क्योंकि वैदिक कवि की दृष्टि में इन सब का प्रमुख व्यापार पानी बरसाना है। साथ ही यह भी याद रखिए कि विभिन्न वैदिक देवताओं का यथार्थ स्रोत एक ही है, किंतु उन देवताओं में उस संज्ञा के कारण विभेद आ गया है, जो कि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनैः शनैः अपना स्वतंत्र रूप बना लिया है। साथ ही देवताओं के क्रिया-कलाप के विषय में वैदिक कवियों की उक्तियाँ भी अस्पष्ट-सी हैं-क्योंकि ऋग्वेद में इसके अपने स्वरूप के कारण, गाथाओं की ओर संकेतमात्र किया गया है, उनका विस्तार से वर्णन नहीं। साथ ही जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि वैदिक सूक्तों की रचना में अनेक कवियों का हाथ रहा है और इनकी रचना बहुत लंबे काल तक चलती रही है, तब हमें वैदिक देवताओं के विषय में मिलनेवाली उक्तियों के एकरूप होने की आशा करना वृथा मालूम पड़ता है।

वैदिक देवशास्त्र का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचना-ऋग्वेद है। इसकी गाथाओं में विभिन्न महत्व के अनेक परस्पर-मिलित प्रकृति-देवताओं का विवरण मिलता है। यह बहु-देववाद ऋग्वैदिक काल के अंत में उभरती हुई भावात्मकता से प्रभावित होता हुआ इस वेद के दशम मंडल में, एक प्रकार के एकदेववाद, अथवा यों कहिए कि सर्वदेववाद (अद्वैतवाद) में बदल जाता है। और चूँकि इस संग्रह का लक्ष्य यज्ञ-प्रक्रिया, और उसमें भी विशेषतः सोमयाग हैं, इसलिए इसमें अपने काल की देवशास्त्रीय सामग्री

का अनुपात-विहीन प्रतिपादन हुआ है। उन महान देवताओं को, जिनका सोमयागों में प्रमुख स्थान है, अथवा जो धनवानों की पूजा के भागी हैं, इस संग्रह में ऊँचा स्थान मिला है; किंतु उन देवताओं को, जिनका संबंध प्रेतात्माओं, जादू एवं मरणोत्तर जीवन के साथ है, इसमें अपेक्षाकृत न्यून स्थान मिला है; क्योंकि इस कोटि के मानव-विश्वास का सोमयाग के साथ कोई संबंध नहीं है। साथ ही जहाँ इन ऋक्सूत्रों में-जो कि देवताओं के प्रति आह्वानरूप हैं और जिनमें देवताओं के गुणों का वर्णन है-देवताओं के स्वरूप का निदर्शन पूरी तरह हुआ है, वहाँ इनमें इन देवताओं के इने-गिने विशिष्ट विजयकृत्यों को छोड़ इनके इतर क्रिया-कलाप की झाँकी अत्यन्त धुंधली अवस्था में हमारे सामने आई है। और यह स्वाभाविक है कि एक याज्ञिक रचना में, जिसमें कि वर्णनात्मक सामग्री न्यून रहती है, देवशास्त्र के इस पहलू का प्रतिनिधान त्रुटित अवस्था में मिले। ऋग्वेद के प्रथम नौ मंडलों में प्रेतात्माओं, छोटे भूतों और भावी जीवन के विषय में अत्यन्त विकल सूचना मिलती है; किंतु यह कमी, किसी सीमा तक, उसके दशम मंडल में पूरी हो जाती है। दसवें मंडल में भी, मरने के बाद दुरात्माओं के भाग्य में क्या बदा होता है-इस बात के बारे में बहुत कम संकेत मिलते हैं। देवताओं की स्तुति के साथ-साथ, प्रेत-पितृ-पूजा और किसी सीमा तक अचेतन पदार्थों का देवीकरण भी ऋग्वैदिक धर्म में मिलता है।

वैदिक देवशास्त्र के अध्ययन में सामवेद का महत्व नहीं के बराबर है, क्योंकि इसमें केवल 75 मंत्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आये हैं। अथर्ववेद की समाजप्रिय सामग्री का संबंध पारिवारिक रीति-रिवाजों एवं जादू के साथ है। इसके अंतिम भाग में और कौशिक गृह्यसूत्र में प्रेतों के विषय में भरपूर सामग्री उपलब्ध होती है। धर्म के इस निम्न स्तर पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद कहीं अधिक प्राचीन विश्वासों का विवरण प्रस्तुत करता है, किंतु साथ ही धर्म के उच्च स्तर पर भी यह उसके अधिक विकसित रूप का परिचायक दीख पड़ता है। व्यक्तिक देवताओं में उत्तरकालीन विकास की छवि प्रत्यक्ष है, जबकि कुछ और अभिनव 'भाव' देवता समझे जाने लगे हैं और धर्म सर्वदेववाद (अद्वैत) का रूप धारण करके हमारे सम्मुख आता है। व्यक्तिभूत देवताओं के स्तवन-

सूक्त अपेक्षाकृत कम हैं, जबकि अनेक देवताओं का एक साथ आह्वान- जिसमें कि उनके असली स्वरूप पर कम प्रकाश पड़ पाता है-आम हो जाता है। देवताओं के क्रिया-कलाप का वर्णन उसी लचर ढर का है जैसा कि ऋग्वेद में। कह सकते हैं कि अथर्ववेद में देवशास्त्र का कोई ही ऐसा पहलू मिलेगा जिसका संकेत ऋग्वेद में न आ चुका हो। यजुर्वेद में तो अथर्ववेद से भी कहीं अधिक बाद की दशा का प्रतिफलन है। और चूँकि इस वेद की रचना कर्मकाण्ड के लिए हुई है, इसलिए इसके मंत्रों का सीधा लक्ष्य देवता नहीं है। देवताओं का व्यक्तित्व इस वेद में धुंधला पड़ गया है, क्योंकि यज्ञ-प्रक्रिया के साथ उनका संबंध बहुत ढीला-ढाला रह गया है। हाँ, यजुर्वेद के देवशास्त्र का सबसे प्रमुख पहलू है-प्रजापति का मुख्य देव के रूप में उत्थान, विष्णु के महत्व में उत्कर्ष, और ऋग्वेद के एक प्राचीन देवता का शिव के रूप में अभ्युदय। किंतु, चूँकि इस वेद में यज्ञ की अपेक्षा देवताओं का स्थान गौण है इसलिए इस वेद में देवशास्त्रीय सामग्री बहुत कम हाथ लगती है।

यजुर्वेद में तथा ब्राह्मणों में-जिनमें ऐतरेय एवं शतपथ प्रमुख हैं-तात्विक भेद नहीं है। और चूँकि मानवीय आकर्षण का विषय अब यज्ञ बन गया है इसलिए देवताओं की व्यक्तिगत विशेषताएँ छितराकर धुंधली पड़ गई है। कतिपय देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन आ गया है और कुछ-एक देवताओं के महत्व में उत्कर्ष या अपकर्ष आ गया है। शेष बातों में ब्राह्मणों का देव-वर्ग वैसा ही है जैसा कि ऋग्वेद या अथर्ववेद में मिलता है; और अचेतन पदार्थों की स्तुति यहाँ भी पूर्ववत् जारी है। ऋग्वेद और ब्राह्मणों के देवशास्त्र में मुख्य भेद यह है कि ब्राह्मणों में प्रजापति को प्रधान देवता के रूप में स्वीकार कर लिया गया और साथ ही ब्राह्मणों का देव-वर्ग स्पष्ट बन गया है। इस प्रकार प्रजापति का 'सर्व' अथवा 'सब कुछ और हर कुछ' कहकर स्तवन किया गया है। (सर्वं वै प्रजापतिः। श.ब्रा.1.3.5.10, 4.5.7.2)

और चूँकि देवताओं के अपने-अपने विशिष्ट गुण भुलाये जा चुके हैं इसलिए अब उन्हें वर्गों में विभक्त करने की प्रवृत्ति बलवती बन गई है। फलतः इस युग की एक विशेषता यह हो गई है कि इसमें अति प्राकृतिक शक्तियों को दो विरोधी दलों में बांट दिया गया है-एक वर्ग की

शक्तियाँ देवता हैं और दूसरे की असुर या राक्षस। पुनः देवता के भी तीन वर्ग कर दिये गये हैं-पृथिवीस्थ वसुगण, अंतरिक्षस्थ रुद्रगण और द्युःस्थ आदित्य। वर्गों में सब से अधिक महत्वशाली वर्ग है-अग्नि, वायु और आदित्य की त्रिकुटी। ये रचनाएँ औपचारिक हैं और इनमें व्यक्तिक देवताओं के भिन्न-भिन्न गुणों को मानवीकरण के द्वारा अलग-अलग कर दिया गया है। उदाहरण के लिए इनमें अग्नि का वर्णन-भोजन का स्वामी 'अग्नि' और मंत्र का स्वामी 'अग्नि' इन रूपों में किया गया है।

ऋग्वेद के 14 सूक्त सूर्य के निमित्त रचे गये हैं। अनेक स्थलों पर इस बात का निर्माण करना असंभव हो जाता है कि सूर्य शब्द से केवल प्राकृतिक दृश्य अभिप्रेत है अथवा उसका मानवीय रूप। फलतः यह कहना कठिन है कि वेद में सूर्य देवता का बोध कितनी बार अभिप्रेत है, क्योंकि कई जगह 'सूर्य' इस नाम से भौतिक सौर-मंडल का भी बोध होता है। सौर-देवताओं में सूर्य सबसे अधिक स्थूल हैं, और भौतिक सूर्य के साथ उनका निकट संबंध एक जगह भी आँख से ओझल नहीं हो पाया है। आकाश में सूर्य का ज्वलंत प्रकाश मानो अमूर्त अग्निदेव का मुख है (अनीक)। (अग्नेरनीकं बृहतः सपर्य दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य। । ऋ.10.7.3) सूर्य की चक्षु का उल्लेख अनेक बार आया है; (अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्।। ऋ.5.40.8) किंतु स्वयं सूर्य को भी उतनी ही बार मित्र और वरुण की आंख बताया गया है, और साथ में अग्नि की भी। (चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने।। ऋ.1.115.1) एक जगह उषा के विषय में आता है कि वह देवताओं के नेत्र को लाती है। (देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतंनयन्ती सुदृशीकमश्वम्। उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता।। ऋ.7.77.3.) चक्षु और सूर्य की पारस्परिक समानता की ओर एक मंत्र में निर्देश आता है, जहाँ कहा गया है कि मृतक की चक्षु सूर्य में चली जाती है। (सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा।। ऋ.10.16.3, चक्षोः सूर्यो अजायत।। ऋ.10.90.13, चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः।। ऋ.10.158.3, चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः।। ऋ.10.158.4.) अथर्ववेद में सूर्य को चक्षुओं का पति बताया गया है। (सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु।। अथ.5.24.9.) और उल्लेख आता है कि वे प्राणियों के एक नेत्र हैं, जो आकाश, पृथिवी

और जल के परोवर देखते हैं। (सूर्योद्यांसूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽतिपश्यति। सूर्योभूतस्यैकं चक्षुः।। अथ.13.1.45.) वे दूर-द्रष्टा हैं, (शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु।। ऋ.7.35.8., दूरदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत।। ऋ.10.37.1.) सर्वद्रष्टा (सूराय विश्वचक्षसे।। ऋ.1.50.2.) हैं, अशेष जगती के सर्वेक्षक हैं। (तं सूर्ये हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति।। ऋ.4.13.3.) सभी प्राणियों को एवं और मर्त्यों के भले-बुरे कर्मों को वे निहारते हैं। (पश्चञ्जन्मानि सूर्य।। ऋ.1.50.7., ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान्।। ऋ.6.51.2., उभे उदेति सूर्यो अभिज्मन्।, विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्।। ऋ.7.60.2., उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्। अभि यो विश्व भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत।। ऋ.7.61.1.) सूर्य के द्वारा उद्‌बुद्ध किए जाने पर मनुष्य अपने लक्ष्यों की ओर निकल पड़ते हैं और अपने कार्यों को पूरा करने में व्यस्त हो जाते हैं। (उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।। ऋ.7.63.1., दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति।। ऋ.7.63.4., नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि।। ऋ.7.63.4.) मानवजात के लिए सूर्यदेव उद्‌बोधक बनकर उदित होते हैं। (उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य।। ऋ.7.63.2, एष मे देवः सविता चच्छंद यः समानं न प्रमिनाति धाम।। ऋ.7.63.3.) वे चर और अचर सभी की आत्मा है। (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।। ऋ.1.115.1., विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाः।। ऋ.7.60.2.) उनके रथ को एक ही घोड़ा खींचता है। उनके घोड़े का नाम एतश (समान चक्रं पर्याविवृत्सन्। यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः।। ऋ.7.63.2.) है। यह भी कहा गया है कि उनके रथ को अगणित घोड़े खींचते हैं, (भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य।। ऋ.1.115.3., न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरैरथर्यसि।। ऋ.10.37.2., अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।। ऋ.10.49.7.) अथवा उनके रथ में घोड़ियाँ, (यत्सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशेकः।। ऋ.5.29.5.) सात घोड़े, (आ सूर्ये यातु सप्ताश्वः।। ऋ.5.45.9.) या हरितः नाम की घोड़ियाँ (सप्त त्वा

हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।। ऋ.1.50.8., अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः।। ऋ.1.50.9., अयुक्त सप्त हरितः सधस्था द्या ईं वहन्ति सूर्य घृताचीः।। ऋ.7.60.3.) या सात तीव्रगामी घोड़ियाँ जुड़ती हैं। (तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति।। ऋ.4.13.3.)

सूर्य के पथ का निर्माण उनके लिए वरुण ने किया है। (उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।। ऋ.1.24.8. रदत्पथो वरुणः सूर्याय।। ऋ.7.87.1.) अथवा यों कहिए कि उसे आदित्यों ने-मित्र, वरुण और अर्यमा ने (यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सुजोषाः।। ऋ.7.60.4.) बनाया है। पूषा उनके संदेशवाहक हैं। (यास्ते पूपन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य।। ऋ.6.58.3.) उषा या उषाएँ सूर्य, अग्नि और यज्ञ को जन्म देती हैं। (एषा स्या नव्य मायुर्दधाना गूढ़वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि। अग्र एति युवतिरहयाणा प्राचिकितत्सूर्ये यज्ञमग्निम्।। ऋ.7.80.2., पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्ती रुषसो विभातीः। अजीजनन्त्सूर्ये यज्ञमग्निम्।। ऋ.7.78.3.) सूर्यदेव इन उषाओं के उत्संग में चमकते हैं। (विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः।। ऋ.7.63.3.) किंतु किन्हीं और दृष्टियों से उषा को सूर्य की पत्नी भी बताया गया है। (वाजिनीवती सूर्यस्य योषा।। ऋ.7.75.5.)

सूर्य को माता के नाम पर आदित्य, अर्थात् अदिति के पुत्र, या आदितेय भी कहा गया है। (उदगादयमादित्यः।। ऋ.1.50.13., उदपप्तदसौ सूर्य पुरु विश्वानि जूर्वन्। आदित्य पर्वतेभ्यः।। ऋ.1.191.9., वण्महाँ असि सूर्य बलादित्य महाँ असि। महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्रा देव महाँ असि।। ऋ.8.101.11., यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।। ऋ.10.88.11.) किंतु कहीं-कहीं उन्हें आदित्यगण से पृथक भी दिखाया गया है। (सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना।। ऋ.8.35.13., सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना।। ऋ.8.35.15.) उनके पिता द्यौ हैं। (दिवस्पुत्राय सूर्याय शसंत। दूरदृशे देवजाताय केतवे।। ऋ.10.37.1.) देवता से वे जन्में हैं। देवताओं ने उन्हें, जबकि वे समुद्र

में विलीन थे, वहाँ से उभारा। (यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यषिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन।। ऋ.10.72.7.) अग्नि के ही एक रूप में देवताओं ने उन्हें द्यौ में टांगा है। (यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा सूर्यमादितेयम्।। ऋ.10.88.11.) एक और विचारधारा के अनुसार उनकी उत्पत्ति (चक्षोः सूर्यो अजायत।। ऋ.10.90.13.) विश्वपुरुष के नेत्र से हुई है। अथर्ववेद (वृत्राज्जातो दिवाकरः।। अथ.4.10.5.) में तो सूर्य की उत्पत्ति वृत्र तक से भी बताई गई है।

अनेक देवताओं के बारे में आता है कि उन्होंने सूर्य को उत्पन्न किया। इन्द्र ने सूर्य को जन्म दिया, (यः सूर्यं उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः।। ऋ.2.12.7.) उन्हें भासित किया एवं द्युलोक में उभारा। (सूर्यैं हर्यन्नरोचयः।। ऋ.3.44.2.) इंद्र और विष्णु ने उन्हें जन्म दिया। (जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्।। ऋ.7.99.4.) इंद्र और सोम ने उन्हें प्रकाश के ऊपर उभारा। (इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यैं नयथो ज्योतिषां सह।। ऋ.6.72.2.) इन्द्र और वरुण ने प्रभूत सूर्य को द्यौ में उठाया। (सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्। इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनः।। ऋ.7.82.3.) मित्र और वरुण ने उन्हें उभारा अथवा द्युलोक में बिठाया। (अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यैं दिव्यारोहयन्ति।। ऋ.4.13.2. माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।। ऋ.5.63.4.) सोम ने सूर्य में प्रकाश का.आधान किया, (अयं सूर्यें अद्धाज्ज्योतिरन्तः।। ऋ.6.44.23. (ओजो-)ऽजनयत्सूर्यें ज्योतिरिन्दुः।। ऋ.9.97.41.) सूर्य को जन्म दिया, (जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य।। ऋ.9.96.5.) उन्हें चमकाया (अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः।। ऋ.9.63.7.) अथवा उन्हें द्युलोक में टिकाया। (आ सूर्यें रोहयो दिवि।। ऋ.9.107.7.) अग्निदेव ने सूर्य की चमक को ऊँचाई पर स्थित किया। (ऊर्ध्वं भानुं सूय्रसय स्तभायन्।। ऋ.10.3.2.) और उन्हें स्वर्ग में चढ़ाया। (अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यें रोहयो दिवि।। ऋ.10.156.4.) धाता ने सूर्य एवं चन्द्र का निर्माण किया। (सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।। ऋ.10.190.3.) अग्निरसों ने अपने यज्ञों द्वारा सूर्य-चंद्र को आकाश में टिकाया। (य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि। सुप्रजास्त्वमग्निरसो वो

अस्तु।। ऋ.10.62.3.) सूर्य की उत्पत्ति से संबद्ध इन सभी मंत्रों में साधारण सूर्य के भौतिक प्रकाश की ओर संकेत सुस्पष्ट है।

अनेक मंत्रों में सूर्य को आकाश में उड़नेवाले पक्षी के रूप में देखा गया है। सूर्य एक पक्षी हैं (पतङ्गमक्तमसुरस्य माययां।। ऋ.10.177.1., पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति।। ऋ.10.177.2.) या वे एक अरुष सुपर्ण हैं, (उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः।। ऋ.5.47.3.) वे उड़ते हैं, (उदपत्पदसौ सूर्यः।। ऋ.1.191.9.) वे उड़नेवाले एक बाज हैं (श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः।। ऋ.7.63.5.) और एक मंत्र में तो उन्हें साफ़-साफ़ श्येन बताया गया है। (रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा। । ऋ.5.45.9.) एक मंत्र में उन्हें वृषभ एवं पक्षी कहा गया है (उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः।। ऋ.5.47.3.) और एक अन्य मंत्र में उन्हें चितकबरा बैल (गौः पृश्निः) बताया गया है। (आयं गौः पृश्निरक्रमीत्।। ऋ.10.189.1. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश। मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा।। ऋ.5.47.3.) एक स्थान पर उन्हें उषा के द्वारा लाया गया श्वेत और चमकीला घोड़ा बताया गया है। (देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्। उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता।। ऋ.7.77.3.) सूर्य की किरणें ही उनके घोड़े हैं (जिनकी संख्या 7 है)।(तं सूर्ये हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति।। ऋ.4.13.3. दे.4.13.4. क्योंकि कहा गया है कि सूर्य की किरणें ही (केतवः) उन्हें लाती है। उनकी सात घोड़ियों को उनके रथ की सात पुत्रियाँ बताया गया है। (अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो थस्य नप्त्यः।। ऋ.1.50.9.)

और जगहों पर मौके के अनुरूप सूर्य का वर्णन अचेतन पदार्थ के रूप में भी हुआ है। वे आकाश के एक रत्न हैं (दिवोरुक्म उरुचक्षा उदेति।। ऋ.7.63.4., रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत्।। ऋ.6.51.1.) और उनकी उपमा एक चित्र वर्ण के पत्थर से की गई है जो आकाश के मध्य में भासमान है। (मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा।। ऋ.5.47.3., अथ यद्श्रु संक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्निरभवद्श्रुर्ह वै तमश्मेत्याचक्षते। । शत.ब्रा.6.1.2.3.) सूर्य एक ज्योतिष्मान् आयुध है, जिसे मित्र और वरुण बादल और वर्षा से आवृत्त करते हैं। (माया वां मित्रावरुणा दिवि

श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्। तमध्रेण वृष्टया गूहथो दिवि।। ऋ.5.63.4.) वे मित्र और वरुण (अनुवामेकः पविरा वबर्द्र।। ऋ.5.62.2.) के वज्र हैं; वे मित्र और वरुण द्वारा आकाश में छोड़े गये ज्योतिष्मान् रथ हैं। (सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्।। ऋ.5.63.7.) सूर्य एक-चक्र है (मुषाय सूर्यै कवे चक्रमीशान आजसा।। ऋ.1.175.4. चत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम्।। ऋ.4.30.4.) और दो मंत्रों में 'सूर्य-चक्र' का उल्लेख आता है। (त्वा युजा नि खिदत्सूर्यत्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो।। ऋ.4.28.2 प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य।। ऋ.5.29.10.)

सूर्य अनिश्चित चराचर के लिए चमकते हैं। (उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।। ऋ.1.50.5.) वे मनुष्यों और देवताओं के लिए भासित होते हैं। (प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्डुदेषि मानुषान्।। ऋ.1.50.) वे अपने प्रकाश से अंधकार का विध्वंस करते हैं। (येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमः।। ऋ.10.37.4.) वे अंधकार को चर्म की भाँति बटोर लेते हैं। (चर्मेव यः समविव्यक तमांसि।। ऋ.7.63.1.) उनकी किरणें अंधकार को चर्म की भांति पानी में फेंक देती हैं। (दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः।। ऋ.4.13.4.) वे अंधकार के प्राणियों और यातु-धानियों को पराजित करते हैं। (उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा। अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भ युन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः।। ऋ.1.191.8., आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा।। ऋ.1.191.9. इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियैः मायया शाशदानाम्। विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्।। ऋ.7.104.24.) सूर्य की ललाटतप धूप की ओर केवल दो या तीन बार संकेत आये हैं। (तपन्ति शत्रुं स्वर्ण भूमा।। ऋ.7.34.19., घृणा तपन्तमति सूर्य परः।। ऋ.9.107.20.) और यह इसलिए कि ऋग्वेद में सूर्य को पीड़ा देनेवाला देवता नहीं माना गया है। इस ज्योतिष्पुञ्ज के क्लेशदायी पहलू के लिए अथर्ववेद एवं ब्राह्मणों से मंत्र उद्धृत किए जा सकते हैं।

सूर्य दिनों को नापते (वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य।। ऋ.1.50.7.) और आयु के दिनों को बढ़ाते हैं।

(सोम राजन् प्रण आयूषि तारीरहानीव सूर्ये वासराणि।। ऋ.8.48.7.) वे बीमारी और प्रत्येक प्रकार के दुःस्वप्न का नाश करते हैं। (तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुःष्वप्न्य सुव।। ऋ.10.37.4.) जीवन का अर्थ ही सूर्योदय का दर्शन करना है। (ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम्।। ऋ.4.25.4., पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।। ऋ.6.52.5.) सभी प्राणी सूर्य पर अवलंबित हैं। (सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा।। ऋ.1.164.14.) आकाश उन्हीं के द्वारा ठहरा हुआ है। (सूर्येणोत्तभिता द्यौः।। ऋ.10.85.1.) उन्हें विश्व कर्मा भी कहा गया है। (येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता।। ऋ.10.170.4.) अपनी महत्ता के कारण वे असुर्य पुरोहित हैं (असुर्यः पुरोहितः)। उदय के समय उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे मित्र, वरुण एवं अन्य देवताओं के समक्ष मनुष्यों को निष्पाप घोषित करें। (यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्।। ऋ.7.60.1., स सूर्य प्रति पुरो न उद् गाएभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः। प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च।। ऋ.7.62.2.) उदय के समय उन्हें वृद्धघ्न इंद्र के पास जाने के लिए कहा गया है, और जब उन्हें इन्द्र के साथ बुलाया गया है तब उन्हीं को वृद्धघ्न कहकर पुकारा गया है। (आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन्।। ऋ.8.82.1, तीव्रा सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः।। ऋ.8.82.2. आ त्वशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे। उपमे रोचने दिवः।। ऋ.8.82.4.)

सूर्य के विषय में कही गई एकमात्र गाथा का सार है कि इंद्र ने उनका हनन किया (संवर्ग यन्मघवा सूर्य जयत्।। ऋ.10.43.5.) और उनके चक्र को चुरा लिया। (मुषाय सूर्ये कवे चक्रकीशान ओजसा। ऋ.1.175.4 यत्रोत बांधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इंद्र सूर्यम्। । ऋ.4.30.4.) हो सकता है कि यह घटाओं के बीच सूर्य के घिर जाने का आलंकारिक वर्णन हो।

अवेस्ता में ही ह्वरे अर्थात् सूर्य (=वैदिक स्वर जिससे सूर्य की निष्पत्ति हुई और जो ग्रीक **helios** से संबद्ध है) के शीघ्रगामी घोड़ों को अहुरमज़्दा का नेत्र बताया गया है।

पुराणों में सूर्य:

सूर्य आगम-निगम-संस्तुत और ज्ञान-विज्ञान-सम्मत देवाधिदेव परम देवता हैं। उन्हें लोकजीवन के साक्षी और सांसारिक प्राणियों की आँखों का प्रकाशक कहा गया है। इसीलिए उनको 'लोकसाक्षी' और 'जगच्चक्षु' कहते हैं। निरुक्त के अनुसार आकाश में परिभ्रमण करने के कारण उन्हें सूर्य की संज्ञा प्राप्त है। वे ही लोक को कर्म की ओर प्रेरित करते हैं तथा लोक रक्षक होने से रवि के नाम से उद्घोषित हुए हैं। ((क) सरति आकाशे-इति सूर्यः। (ख) सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति इति सूर्यः। (ग) रूपये इति रविः। (घ) अवतीमांस्त्रयान् लोकांस्तस्मात् सूर्यः परिभ्रमात्। अचिरात्तु प्रकाशेत अवनात् स रविः स्मृतः।।)

प्राचीनतम वैदिक ऋषि-मुनि से आधुनिकतम वैज्ञानिक तक सूर्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक गुणों से भली भाँति परिचित होते रहे हैं। अतएव सूर्य से भावपूर्ण संपर्क स्थापित करने के लिए उन्होंने सूर्योपासना को विश्वधर्म और संस्कृति का अनिवार्य अंग बना दिया। फलतः भगवान् सूर्य सम्पूर्ण विश्व के लिए अधिष्ठाता के रूप में अंगीकृत हो गये। रोग-संबंधी जीवाणुओं के शमन के लिए सूर्य-किरणों की उपयोगिता चिकित्साशास्त्रसम्मत है और वनस्पतिशास्त्र में वनस्पतियों की अभिवृद्धि के लिए सूर्यकिरणों की उपादेयता स्वीकार की गयी है। कृषि विज्ञान के अनुसार वर्षा के हेतु मेघ के निर्माण के लिए सूर्यज्योति अनिवार्य है। (धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः। (मेघदूत 1/5))

आरोग्य-कामना, निर्धनता-निवारण और संतति-प्राप्ति आदि की दृष्टि से तो सूर्य की पूजा एवं उनके स्तोत्रों के पाठ का व्यापक प्रचलन है। कर्मकाण्ड में सूर्य को प्रथम पूज्य देव की प्रतिष्ठा प्राप्त है। सूर्य को अर्घ्य देने के बाद ही देवकार्य या पितृकार्य का विधान सर्वसम्मत है। तंत्रासार या आगम पद्धति में तो सूर्यविज्ञान की अत्यन्त महिमा है। (सूर्यविज्ञान के चमत्कारी पक्ष के विशद विवरण के लिए द्रष्टव्य- 'सूर्यविज्ञान' शीर्षक प्रकरण 'भारतीय संस्कृति और साधना' (खंड 2,

पृष्ठ 161), म.म.प.गोपीनाथ कविराज, प्र.बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना-4) योगासनों में भी 'सूर्यनमस्कार' को प्राथमिकता दी गयी है। निस्संदेह सूर्य जागतिक जीवों के प्राणपोषक, सर्वसंप्रदायसम्मत लोकतांत्रिक अजातशत्रु देवता हैं, शास्त्र एवं पुराणों में ऐसा निर्देश है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन सूर्य को नमस्कार करता है, वह हज़ार जन्मों में भी दरिद्र नहीं होता। (आदित्याय नमस्कारं ये कुर्वन्ति दिने दिने। जन्मान्तरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते।।-आदित्यहृदयस्तोत्र) मार्कण्डेय पुराण के अनुसार प्रातःकालीन सूर्य जिस घर में शय्या पर सोये हुए पुरुष को नहीं देखते, जिस घर में नित्य अग्नि और जल वर्तमान रहता है और जिस घर में प्रतिदिन सूर्य को दीपक दिखाया जाता है, वह घर लक्ष्मीपात्र होता है। (भास्करादृष्टशय्यानि नित्याग्निसलिलानि च। सूर्यावलोकदीपानि लक्ष्म्या गेहानि भाजनम्।।-मा.पु.50/81) इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख है कि आरोग्यकामी मनुष्यों को सूर्य की प्रार्थना करनी चाहिए। (आरोग्यं भास्करादिच्छेद्धन मिच्छेद्धुताशनात्। ज्ञानं च शङ्करादिच्छेन्मुक्ति-मिच्छेज्जनार्दनात्।।-भागवते व्यास-वचनम्) जिस प्रकार सूर्य की किरणों से संपूर्ण संसार प्रकाशित है, उसी प्रकार सूर्य की महिमा से समस्त विश्वाङ्मय मुखरित है।

यह सर्वज्ञात है कि जो देवता जितने महान् होते हैं, उनकी उत्पत्ति की कथा उतनी ही अद्भुत होती है। पुराणों में वर्णित महामहिम देवता सूर्य की उत्पत्तिकथा न केवल विचित्र ही है, अपितु इसमें सूर्य के वैज्ञानिक आयामों का रूपकात्मक विन्यास भी परिलक्षित होता है।

प्रजापति ब्रह्मा को जब सृष्टि की कामना हुई तो उन्होंने अपने दायें अँगूठे से दक्ष की और बाएँ से उनकी पत्नी का सृजन किया। ब्रह्मपुत्र मरीचिका ही दूसरा नाम कश्यप था। दक्ष की तेरहवीं कन्या के रूप में उत्पन्न अदिति के साथ कश्यप का विवाह हुआ। कश्यप के द्वारा स्थापित अदिति के गर्भ से भगवान् सूर्य ने जन्म लिया। उन भगवान् सूर्य से ही समस्त चराचर जगत् का आविर्भाव हुआ। अदिति ने पहले सूर्य की आराधना की थी, इसीलिए वे अदिति के गर्भ से पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

ब्रह्मा के मुख से पहले 'ऊँ' प्रकट हुआ। उससे पहले भूः, भुवः और स्वः उत्पन्न हुए। यह व्याहृतित्रय ही अदिदेव सूर्य का स्वरूप है।

साक्षात् परब्रह्म-स्वरूप 'ऊँ' सूर्य का सूक्ष्म रूप है। फिर यथाक्रम उनके 'महः, जनः, तपः और सत्यम्' इन चार स्थूल से स्थूलतर रूपों का आविर्भाव हुआ। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्' ये सूर्य की सप्तमूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आदि तेज 'ऊँ' के स्वभाव से जो तेज उत्पन्न हुआ, वही आदि तेज को सम्यक् रूप से आवृत करके अवस्थित हुआ। फिर बाद में ब्रह्मा के मुख से निकले हुए ऋक्-मय, यजुर्मय और साममय-अर्थात् शान्तिक, पौष्टिक और आभिचारिक तेज परस्पर मिलकर उक्त आद्य तेज 'ऊँ' पर अधिष्ठित हो गये। इस प्रकार एकत्र तेजःपुञ्ज से विश्व में व्याप्त गंभीर अंधकार नष्ट हो गया और संपूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् सुनिर्मल हो गया। दसों दिशाएँ किरणों की प्रखर कांति से चमकने लगीं। इस प्रकार ऋग्यजुः-सामजनित छंदोमय तेज मण्डलीभूत होकर ऊँकारस्वरूप परम तेज के साथ मिल गया और यही अव्ययात्मक तेज विश्वसृष्टि का कारण बना। अदिति से उत्पन्न होने के कारण सूर्य को 'आदित्य' कहा जाता है; किंतु पुराणों के अनुसार, सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने के कारण ही सूर्य को 'आदित्य' नाम से संबोधित करते हैं।

ऋक्, यजुः और साममय-अर्थात् शांतिक, पौष्टिक और आभिचारिक तेज क्रमशः प्रातः, मध्याह्न और अपराह्न में ताप देते हैं। पूर्वाह्न के ऋतेज की संज्ञा शांतिक, मध्याह्न के यजुस्तेज की पौष्टिक और सायाह्न के सामतेज की आभिचारिक है। सूर्य का तेज सृष्टिकाल में ऋक्मय ब्रह्मारूप, स्थितिकाल में यजुर्मय विष्णुस्वरूप तथा संहारकाल में साममय रुद्रस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसलिए सूर्य को वेदात्मा, वेदसंस्थित, वेदविद्यामय और परमपुरुष कहा जाता है। सूर्य ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के हेतु एवं सत्व, रज और तम-इन तीनों गुणों के आश्रय हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश-इन त्रिदेवों के प्रतिरूप भी सूर्य ही हैं। इसलिए देवतागण सदा-सर्वदा इनकी स्तुति करते हैं। (द्रष्टव्य-विष्णुपुराण द्वितीय अंश, अ.11 श्लोक 7-16)

ऊपर वर्णित परम तेजोमय सूर्य से जब संसार का अधः, ऊर्ध्व और मध्यभाग संतप्त होने लगे तो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भयत्रस्त हो उठे कि इस आदित्य से संपूर्ण सृष्टि ही भस्म हो जाएगी। अतः वे सूर्य की स्तुति

करने लगे। तब उनकी प्रार्थना पर सूर्य ने अपने तेज का संवरण कर लिया। फिर तो ब्रह्मा ने समग्र चराचर जगत्-वन, नदी, पहाड़, मनुष्य, पशु, देवता, दानव और उरग आदि की विराट् सृष्टि की।

अदिति से देवता, दिति से दैत्य तथा दनु से दानव उत्पन्न हुए। अदिति, दिति और दनु के पुत्र सारे संसार में फैल गए। देवों और दैत्य-दानवों में भयंकर युद्ध होने लगा। इस देवासुर संग्राम में देवता पराजित हो गए। हारे हुए देवों की दीनता और ग्लानि देखकर अदिति अपनी संतानों की मंगलकामना से सूर्य की आराधना करने लगीं. तब भगवान सूर्य ने प्रसन्न होकर अदिति से कहा-'मैं तुम्हारे गर्भ से सहस्रांशु होकर जन्म लूँगा और तुम्हारे पुत्रों के शत्रुओं का नाश करूँगा।' (सहस्रांशेण ते गर्भे सम्भूयाहमशेषतः। त्वत्पुत्रशत्रूनदिते नाशयाम्याशु निर्वृतः।।-मार्कण्डेयपुराण 105/9)

भगवान् सूर्य की किरणों के सहस्रांशु ने देवमाता अदिति के गर्भ में प्रवेश करके अवतार रूप में अवस्थित हुए। अदिति बड़ी सावधानी के साथ पवित्र रहकर, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत करती हुई दिव्य गर्भ धारण किए रहीं। उनकी कठोर तपश्चर्या को देख पतिदेव कश्यप क्रुद्ध होकर बोले-'नित्य निराहार व्रत करके इस गर्भाण्ड को क्यों नष्ट कर रही हो?' अदिति के उत्तर में आस्था अनुस्वारित हुई-'यह गर्भाण्ड नष्ट नहीं होगा, वरन् शत्रुओं के विनाश का कारण बनेगा।' यह कहकर क्रोधाविष्ट अदिति ने देव-रक्षक तेजःपुञ्जस्वरूप अपने गर्भाण्ड का परित्याग किया। गर्भाण्ड के तेज से संपूर्ण ब्रह्माण्ड जलने लगा। तब कश्यप सूर्य-सदृश तेजस्वी उस गर्भ को देखकर प्राचीन ऋग्वेदोक्त मंत्रों से उसकी विनम्र प्रार्थना करने लगे। उस गर्भाण्ड से रक्त कमल के समान कांतिमान् एक बालक प्रकट हुआ, जिसके तेज से सभी दिशाएँ समुद्भासित हो उठीं। फिर तो गंभीर स्वर में आकाशवाणी हुई-'कश्यप! तुमने अदिति से कहा था कि क्यों गर्भाण्ड को मार रही हो, इसीलिए इस पुत्र का नाम 'मार्तण्ड' (मारिताण्ड) होगा। यह पूर्ण समर्थ होकर सूर्य के अधिकार का कार्य करेगा और यज्ञ का भाग हरनेवाले असुरों का विनाशक होगा।' (मारितं ते यतः प्रोक्तमेतदंडं त्वया मुने। तस्मान्मुने सुतस्तेऽयं मार्तण्डाख्यो भविष्यति।। सूर्याधिकारं च

विभुर्जगत्येष करिष्यति। हनिष्यत्यसुरांश्चायं यज्ञभागहरानरीन्।। - मा.पु.105/19-20) इस आकाशवाणी को सुनकर परम हर्षित देवता आकाश से उतरे और दैत्य तेजोबल से हीन हो गए। पुनः देवताओं और दानवों में भीषण संग्राम हुआ; किंतु मार्तण्ड के तेज से सभी असुर जलकर भस्म हो गए।

इसके बाद प्रजापति विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री संज्ञा का उन परम तेजस्वी मार्तण्ड के साथ विवाह कर दिया। संज्ञा से भगवान् सूर्य के तीन संतानें-दो पुत्र (वैवस्वत मनु और यम) और एक कन्या (यमुना) उत्पन्न हुईं। परंतु मार्तण्ड के बिंब का अखिल भुवन संतापकारी तेज संज्ञा के लिए असह्य हो गया। तब उसने अपने स्थान पर अपनी छाया को रख दिया और स्वयं पिता विश्वकर्मा के घर लौट गयी।

छाया से भी सूर्य ने तीन संतानें-दो पुत्र और एक कन्या उत्पन्न कीं। वैवस्वत मनु के तुल्य बड़ा पुत्र सावर्णित नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरा पुत्र शनैश्चर नामक ग्रह हुआ और पुत्री का नाम 'तपती' रखा गया। 'तपती' को महाराज संवरण विवाह के निमित्त अपने साथ ले गए। छाया अपने औरस बच्चों से जैसा प्यार करती थी, वैसा प्यार सौतेली संतानों को नहीं दे पाती थी। छाया के इस अपराध को वैवस्तव मनु ने तो सहन कर लिया, किंतु यमराज से नहीं सहा गया। वह सौतेली माँ पर चरणप्रहार करने के लिए उद्यत हो गया। फलतः उसे माँ के अभिशाप का भागी होना पड़ा। हालाँकि अंत में वह शापमुक्त होकर, 'धर्मराज' नाम से संबोधित होने लगा।

संज्ञा के विरह से व्याकुल सूर्य ने अपना तेज क्षीण करने के लिए श्वशुर विश्वकर्मा से आग्रह किया। तब विश्वकर्मा उनके मण्डलाकार बिंब को चाक (सान) पर चढ़ाकर तेज़ घटाने के लिये उद्यत हुए। फिर शाकद्वीप में सूर्य चाक पर चढ़कर घूमने लगे। चक्रारूढ़ सूर्य के परिभ्रांत होने से सारे जड़-चेतन जगत् में उथल-पुथल मच गयी। पहाड़ फट गये, पर्वतशिखर चूर्ण-विचूर्ण हो गये। आकाश, पाताल और मर्त्य-तीनों लोक एवं भुवन व्याकुल हो उठे। इस प्रकार विश्व-विध्वंस की स्थिति उत्पन्न हो गयी। सभी देवी-देवता भयाक्रांत होकर सूर्य की स्तुति करने लगे।

विश्वकर्मा ने सूर्यबिंब के सोलह भागों में पंद्रह भागों को रेत डाला। फलतः सूर्य का प्रचण्ड तापकारी शरीर मृदुल मनोरम कांति से कमनीय हो गया। विश्वकर्मा ने सूर्य तेज के पंद्रह भागों से विष्णु के चक्र, महादेव के त्रिशूल, कुबेर की शिबिका, यम के दण्ड और कार्तिकेय के शक्तिपाश की रचना की एवं अन्यान्य देवों के प्रभाविशिष्ट विभिन्न अस्त्र-शस्त्र बनाये। अब सूर्य के मञ्जुल रोचिष्मान् शरीर को देखकर संज्ञा परम प्रसन्न हुई।

इस प्रकार भारतीय कला चेतना के प्रतीक सूर्य की उत्पत्ति की कथा थोड़े-बहुत रूपांतरों के साथ विभिन्न पुराणों में वर्णित है। यह कथा अधिकांशतः मार्कण्डेयपुराण पर आधृत है तथा विशेषकर भविष्यपुराण (ब्रह्मपर्व), वराहपुराण (आदित्योत्पत्ति अध्याय), विष्णुपुराण (द्वितीय अंश), कूर्मपुराण (40 वाँ अध्याय), मत्स्यपुराण (अ.101) और ब्रह्मवैवर्तपुराण (श्रीकृष्णखंड) आदि में वर्णित है। इसीलिए प्रायः सभी इन तेजोधाम भगवान् सूर्य की प्रार्थना में नतशीर्ष हैं।

यस्य सर्वमयस्येदमङ्गभूतं जगत्प्रभो।
स नः प्रसीदतां भास्वाञ्जगतां यश्च चीवनम्।।
यस्यैकभास्वरं रूपं प्रभामण्डलदुर्दशम्।
द्वितीयमैन्दवं सौम्यं स नो भास्वान् प्रसीदतु।।
ताभ्यां च यस्य रूपाभ्यामिदं विश्वं विनिर्मितम्।
अग्नीषोममयं भास्वान् स नो देवः प्रसीदतु।।

(मा.पु.109/72-74)

इस प्रकार श्री सूरज देव अत्यन्त अनादि एवं प्रतापशाली देवता हैं जिनका वर्णन निगम-आगम-स्मृति-पुराण-इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त लौकिक साहित्य में भी उपलब्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से पुरानी हिंदी लिपियों के प्रयोग द्वारा अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। ध्वनि-परिवर्तन की दिशा में 'स्थिर' का

'अस्थिर' रूप में प्रयोग देखे गए हैं। पाठकों को पुरानी हिंदी लिपि से परिचित करवाने के लिए पांडुलिपि को भी छापा जा रहा है।

'सूरज पुराण' के अनुवाद व संपादकत्व का कार्यभार प्रोफेसर जयधीर तिरुमल राव ने सौंपा था जिसके लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

11 फरवरी, 2008
हैदराबाद।

- ***डॉ.शीला मिश्र***
असोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

सूरज पुराण

सूरज पुराण

सूरज पुराण

सूरज पुराण

सूरज पुराण

सूरज पुराण

सूरज पुराण

मूल ग्रंथ

सूरज पुराण
(मूल पाठ)

ऊँ स्वस्ति श्री गणेशाय नमः।।
ऊँ अथ श्री सूरज पुराण
भाषा लिख्यते।।

वेदों व पुराणों में सूर्य को संसार की आत्मा कहा गया है। वे आदिदेव के रूप में स्वीकारे जाते हैं। पंच देवों में-विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश तथा सूर्य की गणना की जाती है। पुराणों की परंपरा में ब्रह्मपुराण, मार्कण्डेय-पुराण व भविष्य पुराण में सूर्य की उत्पत्ति की कथा के साथ-साथ सूर्य की महानता, उपयोगिता व महात्म्य का रोचक वर्णन मिलता है। कवि प्राचीन परंपरा के अनुसार सिद्धि-दाता गणेश की स्तुति करते हुए सूरज-पुराण की कथा का वर्णन करते हैं, जिसमें सूर्य को जीवनदाता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

।।दोहा।।
एक समै गिरजा सहित शंभु रहै कैलास।
उपजा अति अनुराग दृढ़ कीन्ह कथा परगास।।

आदि भवानी संकर ही पूछा प्रेम दृढ़ाई।।
सूरज प्रताप जो कथा है सो मोहि देउ समुझाई।।

-एक समय की कथा है। कैलाश पर्वत पर शिव जी गिरिजा अर्थात् हिमालय-पुत्री उमा के साथ प्रेम-पूर्वक निवास कर रहे थे। प्रेमवश भवानी ने शंकर जी से यह इच्छा प्रकट की कि-"सूर्य देव की प्रताप की कथा मुझे समझाकर कहो।"

उल्लेख्य है कि मार्कण्डेय पुराण में सूर्यतत्व का विवेचन, ब्रह्मा द्वारा सूर्य की स्तुति तथा सृष्टि रचना क्रम तो है ही, साथ ही अदिति के गर्भ से सूर्य के अवतार धारण करने का वर्णन व सूर्य महिमा के प्रसंग में राज्यवर्द्धन की कथा भी पौराणिक रोचकता के साथ उपनिबद्ध है। ब्रह्मपुराण में कोणादित्य एवं सूर्य की महिमा, सूर्य-महत्व के साथ अदिति के गर्भ से उनके जन्म का वर्णन और सूर्यदेव की स्तुति तथा उनके अष्टोत्तर शतनामों के वर्णनवाले वस्तु-विषय संकलित हैं। इसी प्रकार भगवतीय संदीर्भ में सूर्य के रथ और उसकी गति, भिन्न-भिन्न ग्रहों की स्थिति और गतियाँ, शिशुमार चक्र तथा राहु आदि की स्थिति एवं नीचे के लोकों का पौराणिक पद्धति में शुकदेव व राजा परीक्षित के बीच वार्तालाप द्वारा रोचक व कौतूहलपूर्ण वर्णन है।

श्रीमद्भागवत में भगवान नारायण से आदित्यदेव का अद्वैत सिद्ध हुआ है। विष्णु पुराण के मूलवक्ता मुनिसत्तम पराशर है। इसमें सूर्य संबंधी खगोलीय वर्णन विशेष द्रष्टव्य है। अग्निपुराण में कश्यप आदि के वंश, सूर्यादि ग्रहों तथा दिग्पाल आदि देवताओं की प्रतिमाओं के लक्षण, सूर्य की पूजा-स्थापना की विधियाँ, संग्राम-विजय दायक सूर्यपूजा विधान आदि का वर्णन है। इसी प्रकार लिंगपुराण के उत्तरभाग के 22 वें अध्याय में, मत्स्यपुराण में सूर्य की गति, अवस्थिति का सूत व ऋषियों के कथोपकथन द्वारा, पद्मपुराण में वैशम्पायन व व्यास के वार्तालाप द्वारा, भविष्य पुराण में वासुदेव व ब्रह्मा के माध्यम से सूर्य की स्तुति कथज्ञ की उत्थापना हुई है।

श्री सूरह के महिमा संकर वरनै लीन।।
कोटिन विप्र भुलाइ कै कंचन दक्षिणा दीन।।
प्रथमहि रविसिर नाय कै संकर कीन्ह प्रणाम।।
अरघ दीन करि जोरि कै वरनन लागे नाम।।

-उमा के प्रश्न पूछने पर शंकर जी ने बड़ी तल्लीनता के साथ सूरज के महिमा की कथा सुनाने लगे। सूरज महात्म्य सुनाने से पहले उन्होंने करोड़ों ब्राह्मणों को बुलाकर सोने के सिक्के की दक्षिणा दी। तत्पश्चात् उन्हें (रवि को) प्रणाम कर अपने हाथ से अर्घ्य प्रदान कर वे सूर्य की महिमा का वर्णन करने लगे।

मालवीय जी इस संदर्भ में कहते हैं कि-
ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसंनिविष्टः।

प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त होने के समय प्रत्येक पुरुष व स्त्री को प्रातःकाल स्नान कर और सायंकाल हाथ, मुँह, पैर धाकर सूर्य के सामने खड़े होकर सूर्य मण्डल में विराजमान सारे जगत के प्राणियों के आधार पर ब्रह्म नारायण को 'ऊँ नमो नारायणाय'-इस मंत्र से अर्घ्य देकर यदि जल न मिले तो मात्र हाथ जोड़कर मन को पवित्र व एकाग्र कर श्रद्धा भक्तिपूर्वक सूर्य का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार सूर्य को नित्यप्रति जल का अर्घ्य देने की कथा अनेक संदर्भ में वर्णित है।

वंदो चरण हृदै परी भक्ति प्रेम वललीन।।
महिमा अगम अपार है साहिब ज्ञान प्रवीण।।
वंदो चरण जोरि कै श्री पति गौरी गणेस।।

तुलसीदास कहते सुरज वरनो कथा दिनेस।।

-श्री सूरज-प्रताप का वर्णन करते हुए शिवजी भक्ति व प्रेम से मग्न हुए जा रहे थे। वे उस सूर्य की कथा कह रहे थे जिसकी महिमा अपार है, जो अगम्य हैं, जो ज्ञान में प्रवीण हैं। तुलसीदास जी कहते हैं- "मैं शिव, गौरी, गणेश सभी के चरण कमल की वंदना करते हुए सूर्य की सुयश व महिमा-कथा का वर्णन करता हूँ।"

यद्यपि यहाँ सूर्य महात्म्य का वर्णन किया गया है पर पंचदेवों में भी सूर्य के अंश होने का वर्णन मिलता है। ये पंचदेव हैं-शिव, भवानी, विष्णु, गणेश व ब्रह्मा। इन पंच देवताओं में सूर्यदेव विलीन रहते हैं।

हमारे धर्म में पञ्चदेवों की उपासना का वर्णन मिलता है। 'कापिल-तंत्र' में भी आता है-

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः।।
गुरवो योगनिष्णाताः प्रकृतिं पञ्चधा गताम्।
परीक्ष्य कुर्युः शिष्याणामधिकारविनिर्णयम्।।

आकाश के अधिपति विष्णु, अग्निकी महेश्वरी, वायुतत्व के अधिपति सूर्य, पृथ्वी के शिव एवं जल के अधिपति भगवान गणेश हैं। योगपारंगत गुरुओं को चाहिए कि वे शिष्यों की प्रकृति एवं प्रवृत्ति की (तत्वानुसार) परीक्षा कर उनके उपासनाधिकार अर्थात् इष्टदेव का निर्णय करें।

इस कथन का तात्पर्य यह है कि परमात्मा और उक्त पंचदेवों की उपासनाएँ पाँच प्रकार की हैं। अतः जैसे विष्णुभगवान् या शिवादिस्वरूप परमात्मा ही हैं, उसी प्रकार भगवान सूर्य भी परमात्मा ही हैं। **'उपासनं**

पंचविधं ब्रह्मोपासनमेव तत्'-यह योगशास्त्र का वचन है। इसके आधार पर सगुण ब्रह्म की ही पंचतत्वभेदानुसार पंचमूर्तियाँ हैं।

।।चौपाई।।

श्री सूरज देवता सिमरो तोही। सुमिरन ज्ञान बुद्धि दै मोहीं।।
ज्योति स्वरूप आदित बलवाना। तेज प्रताप तुम अग्नि समाना।।
तुम आदित परमेश्वर स्वामी। अलख निरंजन अंतर जामी।।

-हे सूरज देवता! मैं तुम्हें भक्ति से स्मरण करता हूँ। तुम्हारी स्मरण मात्र से ज्ञान व विद्या अनायास उत्पन्न हो जाते हैं। हे सूर्यदेव! तुम ज्योति-स्वरूप, बलवान, तेज व प्रताप से अग्नि सदृश हो। हे आदित्य! तुम जगत के परमेश्वर स्वामी हो। अलख, निरंजन व अंतर-यामी हो।

अथर्ववेद में सूर्य को 'आदित्य' नाम से अभिहित किया गया है जिसकी उत्पत्ति वायु, भूमि, जल, अग्नि, आकाश, दिशाएँ, वेद, देवता से माना गया है। यदि आदित्य अंतःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप हैं। आदित्य ही प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान-इन पाँचों प्राणों के रूप में विराजते हैं।

आदित्य ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और प्राण-इस पाँच इंद्रियों के रूप में कार्य कर रहे हैं। आदित्य ही वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ-ये पाँचों कर्मेंद्रिय हैं। आदित्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध-ये ज्ञानेंद्रियों के पाँच विषय हैं। आदित्य ही वचन, आदान, गमन, मल-त्याग और आनंद-ये कर्मेन्द्रियों के पाँच विषय बन रहे हैं। आनन्दमय, ज्ञानमय और विज्ञानमय आदित्य ही है।

श्री सूर्यगायत्री में वर्णन है 'हम भगवान् आदित्य को जानते हैं-पूजते हैं, हम सहस्र (अनंत) किरणों से मण्डित भगवान् सूर्यनारायण का ध्यान करते हैं, वे सूर्यदेव हमें प्रेरणा प्रदान करें।' ('आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि। तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।') पीछे सविता देवता हैं, आगे सवितादेवता हैं, बाँए सवितादेवता हैं और दक्षिण भाग में भी (तथा

ऊपर-नीचे भी) सविता देवता हैं। सविता देवता हमारे लिए सब कुछ प्रसव (उत्पन्न) करें (सभी अभीष्ट वस्तुएँ दें)। सविता देवता हमें दीर्घ आयु प्रदान करें। 'ऊँ' यह एकाक्षर-मंत्र ब्रह्म है। 'घृणिः' यह दो अक्षरों का मंत्र है, 'सूर्यः' यह दो अक्षरों का मंत्र है। 'आदित्यः' इस मंत्र में तीन अक्षर हैं। इन सबको मिलाकर सूर्यनारायण का अष्टाक्षर महामंत्र- 'ऊँ घृणिः सूर्य आदित्योम्' बनता है। यही अथर्वाङ्गिरस सूर्यमंत्र है।

वरनीन जाई ज्योति कै लीला। परम धुरंधर परम सुशीला।।
ज्योति कला चौहुँ ओर विराजै। जगमग कानन कुंडल छाजै।।
नील वरन छवि तरंग असवारी। ज्ञान निधान धर्म व्रत चारी।।

-हे सूर्यदेव! आपके प्रकाशित-स्वरूप, लीला महिमा का वर्णन करना संभव नहीं। क्यों आप परम धुरंधर, सुशील हैं। आपके महिमा की ज्योति चारों ओर विराजमान है। आपके गात्र-वर्ण नील हैं; जिसके सौंदर्य की लहर चारों ओर फैली हुई है। आपके कानों में चमकते हुए कुंडल शोभायमान हैं। आप ज्ञान-निधान, धर्म व व्रत-धारण करनेवाले महात्मा हैं।

आदित्यमंडल के आराध्य देवता का वर्णन छांदोग्योपनिषद् के 1।6।6।7 में आया है। श्रुति के अनुसार आदित्यमंडल में उसका जो अंतर्यामी मनोज्ञ प्रकाश स्वरूप पुरुष दिखाई देता है-जिसकी दाढ़ी, केश स्वर्ण की भाँति चमचमाते हैं तथा जो नख से शिखापर्यन्त स्वर्णिम मनोज्ञ प्रकाशयुक्त है, जिसकी अर्चि कमलदल के सदृश है, उस सूर्यमंडलान्तर्वर्ती पुरुष का नाम 'उत्' है; क्योंकि वह कर्मों के बंधनों से मुक्त है-

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा

कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित।'

आदित्यहृदय के 138 वें श्लोक में बतलाया गया है कि सवितृ-मंडल के भीतर रहनेवाले पद्मासन से बैठे हुए केयूर, मकर, कुंडल, किरीटधारी तथा हार पहने, शंखचक्रधारी स्वर्ण के सदृश देदीप्यमान शरीरवाले भगवान् नारायण का सदा ध्यान करना चाहिए।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्यमयवपुर्धृतशंखचक्रः।।

परम पुनीत आदित अविनासी। अजै अनादि सकल घटवासी।।
जासु कथा मै कहौ बखानी। सो पुरुष है अग्नि समानी।।
महिमा आदित अगम अपारा। तीनो भुवन ज्योति उजयारा।।

-हे आदित्य! आप परम पवित्र, अविनाशी, अजर, अनादि व सभी के हृदय के वास करते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि-"जो जिसकी कथा का वर्णन कर रहा हूँ वे पुरुष अग्नि सदृश हैं जो तीनों भुवन में ज्योति प्रकाशित कर रहे हैं। इन आदित्य-भगवान की महिमा अगम व अपार है।

सूर्योपनिषद् में संपूर्ण जगत की उत्पत्ति में एकमात्र कारण सूर्य को ही बतलाया गया है और उन्हीं को संपूर्ण जगत् की आत्मा तथा ब्रह्म बतलाया गया है-'सूर्याद् वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते। असावादित्यो ब्रह्म।' सूर्योपनिषद् की श्रुति के अनुसार संपूर्ण जगत् की सृष्टि तथा

उसका पालन सूर्य ही करते हैं। संपूर्ण जगत् का लय सूर्य में ही होता है और जो सूर्य हैं वही मैं हूँ अर्थात् संपूर्ण जगत् की अंतरात्मा सूर्य ही हैं।

सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च।।

मद्रास की लाइब्रेरी में सुरक्षित सूर्यतापिनी-उपनिषद के अनुसार सूर्य त्रिदेवात्मक तथा प्रत्यक्ष देवता हैं।

भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक-ये तीनों लोक समष्टि ब्रह्माण्ड स्वरूप होने से विराट पदवाच्य भगवान के स्थूल रूप हैं। तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिए अग्नि, वायु, सूर्य रूप से वे ही क्षिति, अंतरिक्ष और द्युलोक में स्थित है। ये तीनों देवता उसी परमात्मा की विभूतियाँ हैं। उनमें से एक ही महान आत्मा देवता है, जो सूर्य कहलाता है।

।।दोहा।।
आदित कथा पुनीत है गावही सुंभ सुजान।
तीनो लोक छवि उदीत है गावही सुंभ सुजान।।
तीनो लोक छवि उदीत है कहौ प्रताप बखान।।

सूर्य देव (आदित्य) की कथा पवित्र है जिसका वर्णन सर्वज्ञ शिव ने वर्णन किया। सूर्य वह प्रतापी देवता है जिनकी छवि तीनों लोकों में उदीयमान है; वे जो स्वर्ग, नर्क व पाताल तीनों लोकों में विराजमान हैं; उनकी प्रताप का व्याख्यान कर रहा हूँ।

इस दोहे में सूर्य को 'आदित्य' नाम से संबोधित किया गया है। उनका नित्य जपनीय गायत्री-मंत्र है-ऊँ आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्। सूर्य का एक नाम आदित्य भी है। आदित्य से अग्नि, जल, वायु, आकाश तथा भूमि की उत्पत्ति हुई है।

देवताओं की उत्पत्ति भी सूर्य से ही मानी गयी है। इस समस्त ब्रह्माण्ड-मंडल को अकेले सूर्य ही तपाते हैं; सूर्य ही हमारे शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के रूप में व्याप्त है। वे तीनों लोकों में व्याप्त है।

।।चौपाई।।

सुनहू उमा आदित परतापा। वरनो विमल सूरज के जापा।।
नाथ महातम सुनुहू भवानी। कहौ कथा पुनीत सुभ बानी।।
गिरिजा सुनहू कथा मन लाई। मै तोही अर्थ कहौ समुझाई।।

-शिव ने कहा-"ओ गिरिजा! हे उमा! मैं अब तुम्हें आदित्य-प्रताप की कथा का वर्णन करता हूँ। आदित्य-प्रताप के अर्थ को अच्छी तरह समझाता हूँ। इस शुभ पवित्र कथा को मन लगाकर सुनना। मैं उस पवित्र-विमल सूरज की कथा को समझाते हुए वर्णन करता हूँ।"

यहाँ शिव पार्वती को मन लगाकर अर्थात् ध्यानाविष्ट होकर सूर्य-महिमा की कथा सुनने का आग्रह करते हैं। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार इस ध्यान के महत्व का संकेत करते हुए कहते हैं कि ध्यान लग जाने पर प्रत्यक्ष सूर्यमंडल में देखें कि दिव्य रथ के भीतरी भाग में पद्मासन पर विश्वात्मा चतुर्भुज,परम सुंदर प्रफुल्ल कमल सदृश, मुख मण्डल वाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं। उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापों का नाश करनेवाला है। वे सभी लोगों को अभय देनेवाले हैं। उनके ललाट की आभा पद्म के गर्भ पत्र के समान लाल है। वे समस्त जगत् के प्रकाशक और सब लोगों के अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिगन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान आदित्य का दर्शन करके यह निश्चय करे कि वे आदित्य मुझसे अभिन्न हैं। फिर इस निश्चय के साथ ही अपने को उनमें चित्तवृत्ति के द्वारा विलीन कर दे।

बांझ सुनै एक मास पुराना। मन विच कर्म सुनै धरि ध्याना।।
नेम धर्म सो करै आहारा। द्वादश व्रत करै अतवारा।।
कूस बिछाइ करै विस्रामा। हरषित लेइ सूरज के नामा।।
इतना टेक धरै त्रिया जवही। होइ दयाल दया निधि तबहीं।।

-सूरज-पुराण की कथा यदि कोई बांझ स्त्री मन, वचन, कर्म सहित ध्यान से सुनें; नियम-धर्म सहित आहार कर बाहर एतवार (आदित्यवार) तक व्रत करें; कुश-आसन पर विश्राम करें; प्रसन्नता के साथ सूर्य की गुण गान करें; तभी दया-निधि सूर्य भगवान प्रसन्न होंगे।

मनीषियों का कथन है कि सूर्यप्रकाश से रोगोत्पादक कृमियों का नाश होता है। जिस प्रकार वात-चिकित्सा का विधान शास्त्रों में वर्णित है, उसी प्रकार अथवा इससे कहीं अधिक सूर्य-चिकित्सा का विधान है। वायु-चिकित्सा सूर्य-प्रकाश से ही सफल होती है। यदि प्रकाश न हो और इन प्रत्यक्ष देव की किरण विश्व में प्रसारित न हों तो जीव जीवित नहीं रह सकते। उपनिषद का वचन है-'अथादित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते' (प्रश्न.उ)16) सूर्य जब उदय होते हैं तो सभी दिशाओं में उनकी किरणों द्वारा प्राण रखा जाता है अर्थात् सूर्यप्रकाश ही वायुमंडल को शुद्ध करता है। सूर्य की किरणों के बिना प्राण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वेद में आयु, बल और आरोग्यादि वर्णन के साथ सूर्य की ओर पीठ कर उनकी रश्चियों का सेवन करके आनंद लेना चाहिए-जैसा कि प्राकृतिक चिकित्सा की विधि गोस्वामी जी अपनी विशुद्ध भावनाओं में प्रकट करते हैं; यथा-भानु पीठि सेइअ उर आगी (मानस)। प्रायः हमने देखा है कि बहुत-से लोग अंधकारयुक्त स्थानों अर्थात् अंधकारयुक्त (अंधतामिस्र) नरक में जीवन निर्वाह करते हैं।.जहाँ भगवान सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं, वहाँ शीतकाल में शीत तो बना ही रहता है। साथ ही वहाँ के प्राणी भयंकर रोग के शिकार हो जाते हैं। उदाहणार्थ-गठिया, गृधसी, स्नायुरोग और पक्षघात आदि। ऐसे लोग वैद्य, डॉक्टर तथा हकीमों की

शरण में जाकर भी अपना शारीरिक कष्ट (रोग) निवारण नहीं कर पाते। सूर्य का प्रकाश दुर्गंध को दूर करनेवाली वायु को शुद्ध कर देता है। तभी तो गोस्वामी जी लिखते हैं-'भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं' विशेष-'प्राणो वै वातः' सूर्य की किरणें रोग रूपी राक्षसों का विनाश करती हैं। 'सूर्यो हि नाष्टाणां रक्षसामपहन्ता'। सूर्यप्रकाश से रोगोत्पादक कृमियों का नाश होता है। यथा-उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा। दृष्टांश्च घ्रन्नदृष्टांश्च क्रिमीन् जम्भयामसि (अथर्व.5।23।6) सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है तथा पश्चिम दिशा में अस्त होता है एवं वह अपनी किरणों द्वारा सभी दिखने तथा न दिखनेवाले कृमियों का नाश करता है। इन कृमियों का स्वरूप वर्णन वेद में इस प्रकार आता है-श्रृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः। भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः।। (अथर्व.2।32।2,6) शरीर में विद्यमान रहनेवाले विभिन्न प्रकार के कृमि भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं, उनका हनन भगवान सूर्य के प्रकाश से ही होता है। अब सूर्य के प्रकाश, धूप तथा किरणों का सेवन प्रत्येक ऋतु में आवश्यक है, इसे हम वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से तथा स्वाथ्स्य-लाभ की दृष्टि से बतलाते हैं। भारतीय विद्वानों ने वसंत-ऋतु को ऋतुराज की संज्ञा दी है। इसमें चैत्र-वैशाख मास आते हैं। इस ऋतु में प्रातः और सायंकाल घूमना हितकर बतलाया है। यथा-'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्' तथापि मध्याह्न-समय में घूमना श्रेष्ठ नहीं है। प्रत्युत इससे ज्वर, माता, मोतीझला, खसरा आदि रोगों का प्रादुर्भाव भी संभव है। ग्रीष्म-ऋतु में भुवनभास्कर अत्यन्त तीक्ष्ण किरण फेंकते हैं, इससे कफ क्षीण होकर वायु बढ़ती है। इसलिए इस ऋतु में नमकीन, अम्ल, कटु पदार्थ का भोजन, व्यायाम ओर धूम्र का त्याग करना हितकर होता है। मधुर, अम्ल, स्निग्ध एवं शीतल द्रव्य भोजन करे। ठण्डे जल से स्नान एवं अंगों का सिचंन कर शक्करयुक्त सत्तू का प्रयोग करे। मद्य (शराब) न पीए। बेला की माला धारण करनी चाहिए। सफेद चंदन को घिसकर लगाना चाहिए। इससे शिरोरक्त एवं दाह शांत होते हैं1 एक धर्मशास्त्रीय वचन भी है; यथा-

चन्दनस्य महत् पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम्।
आपदं हरते नित्य लक्ष्मीस्तिष्ठतु सर्वदा।।

आपदा का ग्रंथकार का भाव मस्तिष्कदाह तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक विपत्तियों के नाश से है। वर्षा-ऋतु में अग्नि के मंद होने से क्षुधा का ह्रास होता है 'वर्षास्वग्न्यबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः'-वर्षा-ऋतु में जठराग्नि का दुर्बल हो जाना संभव है, जिससे वात आदि रोग उत्पन्न होते हैं। वास्तव में मल तथा अग्नि का दूषित होना ही रोगोपद्रव का प्रमुख कारण है। 'आमाशयस्य कायाग्नेर्दौर्बल्यादपि पाचितः' आमाशय की खराबी से मन्दाग्नि हो जाती है; इसलिए अग्नि प्रदीप्त करनेवाली व्रतोपवास, प्राकृतिक चिकित्सा करनी चाहिए। इस ऋतु में धुले हुए शुद्ध वस्त्र पहनने चाहिए। ऋतुओं में सबसे खराब वर्षा-ऋतु होती है। इसमें धूप-सेवन थोड़ी देर तक ही करना चाहिए। शरद्-ऋतु में वास्तव में सूर्य-चिकित्सा का विधान भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। इस ऋतु में पित्त प्रकुपित रहता है, इसलिए भूख अच्छी लगती है। शीतल, मधुर, तिक्त, रक्तपित्त को शमन करनेवाला अन्न एवं जल का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए। साठी और गेहूँ का सेवन करना ठीक है। विरेचन भी लेना चाहिए। दिवा-शयन और पूर्वी वायु का सेवन त्याग देना चाहिए। इस ऋतु में सूर्य की किरणों से तप्त और रात्रि-किरणों द्वारा शीतल अगस्त्य नक्षत्र के उदित होने से जल निर्मल और पवित्र हो जाता है। इस जल को हंसोदक कहते हैं। यह स्नान, पान और अवगाहन में अमृत के समान होता है। इस प्रकार ऋतुओं में होनेवाले भयंकर रोगों से हम सूर्य की कृपा से बच सकते हैं। तभी तो कहा है-'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्'। भगवान् सूर्य की किरणें निःसंदेह शुद्ध करनेवाली हैं-'एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयः' "The rays of sun are certainly purifying." सूर्य ही विनाशक राक्षसों का नाश करनेवाले हैं अर्थात् जो राक्षसरूप भयंकर रोग हैं, उनका विनाश हो सकता है। "For the sun is the speller of the evil spirits, and the sickness" सूर्य के प्रकाश से रोगोत्पादक जन्तु मर

जाते हैं, ऐसा ही सामवेद में निर्देश है-'वेत्थाहि निर्ऋतीनां वज्र हस्त परिव्रजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव।' सूर्य! आप प्रतिदिन राक्षसों के वर्जन को अवश्य जानते हैं अर्थात् सूर्य रोगरूपी राक्षसों के विनाशक हैं। सूर्य दीर्घायुष्य देनेवाले परमात्मा हैं, यथा-'तु चे तुनाय तत्सुनोद्राघीय आयुर्जीवसे। आदित्यासः सु महसः कृणोतन।।' (सामवेद) सूर्य के प्रकाश द्वारा कीटाणु मर जाते हैं। इस विषय में अथर्ववेद का प्रमाण प्रत्यक्ष है 'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि।।' (-अथर्व.2।32।1) अर्थात् सूर्यकिरणों से छिपे हुए रोग-जन्तु भी नष्ट हो जाते हैं।

आदित्यवार के माहात्म्य तथा नंदाख्य आदित्यवार के व्रत-कल्प के माहात्म्य का वर्णन ब्रह्मा ने किया है। वह इस प्रकार है-

जो मानव रविवार के दिन श्राद्ध करते हैं, वे सात जन्मों तक रोगों से रहित होते हैं-नीरोग रहते हैं। जो मानव उस दिन स्थिरता का आश्रय लेकर रात्रि के समय में दान आदि किया करते तथा परम जाप्य आदित्य हृदय का जप करते हैं, वे इस लोक में पूर्ण आरोग्य प्राप्त करके अंत में सूर्यलोक को चले जाते हैं। जो आदित्य के दिन सदा उपवास किया करते हैं, वे भी सूर्यलोक की प्राप्ति करते हैं।

इस संसार में महात्मा आदित्य के द्वादश वार कहे गये हैं, वे ये हैं-नंद, भद्र, सौम्य, कामद, पुत्रद, जय, जयंत, विजय, आदित्याभिमुख, हृदय, रोगहा, महाश्वेतप्रिय। हे गणाधिप! माघ मास में शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि में रात्रि के समय घृत से रवि का स्नापन (स्नान) कराना परमपुण्य बताया गया है। जो ऐसा करता है, वह समस्त पापों के भय का अपहरण करनेवाला राजा होता है। इसमें आदित्य देव को अगस्त्य वृक्ष के पुष्प, श्वेत चंदन, धूपों में गूगल का धूप, नैवेद्य के स्थान में पूप (पूआ) ही विशेष प्रिय हैं। पूप (पूआ) एक प्रस्थ प्रमाण में उत्तम गोधूम (गेहूँ के) चूर्ण का होना चाहिए। यदि गोधूम का अभाव हो तो विकल्प में जौ के चूर्ण से ही गुड़ और घृत से पूप बना लेने चाहिए। इतिहास के वेत्ता ब्राह्मण को सुवर्ण की दक्षिणा के सहित पूओं का दान करना चाहिए

अथवा ऐसे ही अन्य दिव्य पक्वान्न श्रीसूर्य को अर्पित करके देना चाहिए। इस विधान में मण्डक भी ग्राह्य है। पूप निवेदन के समय भक्तिपूर्वक आदित्य को नमस्कार करके आदित्य के समक्ष कहे-'प्रभो! आप मेरा कल्याण करने के लिए इन पूपों को ग्रहण करें। मण्डक देने के समय इस प्रकार कहे-भगवन्! आप कामनाएँ प्रदान करनेवाले, सुख देनेवाले, धर्म से समन्वित, धन के दाता और पुत्र प्रदान करते हैं। हे भास्कर देव! आप इसे ग्रहण करें। भगवन्! मैं आपको प्रिय मण्डक दे रहा हूँ। हे गणश्रेष्ठ! ये वस्तुएँ तथा प्रार्थनाएँ आप आदित्य देव को अत्यन्त प्रिय हैं।' उपासक के लिए ये कल्याणकारी हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। अतः इन्हें निवेदन करना चाहिए। इसके पश्चात मौनव्रती होकर पूपों से ब्राह्मण को भोजन कराए।

जो भक्त मनुष्य इस विधान से रवि का पूजन करता है, वह समस्त पापों से मुक्ति पाकर सूर्य लोक में प्रतिष्ठित होता है। उस महान आत्मा वाले पुरुष को न कभी दरिद्रता होती है और न उसके कुल में कभी कोई रोग ही होता है। जो इस रीति से भानु का पूजन करता है, उसकी संतति का कभी क्षय नहीं होता। यदि कभी सूर्य लोक से भूमण्डल में आता है तो वह फिर यहाँ राजा होता है और बहुत-से रत्नों से संयुक्त होकर तेजस्वी विप्र के तुल्य होता है। त्रिपुरांतक देव इस विधान को पढ़ने एवं सुननेवालों को दिव्य और अचल लक्ष्मी देते हैं।

मिथ्या वचन कहौ नहि तोही। मनोवचकर्म जो पूछौ मोही।।
नीहचै प्रसन्न हो ही बलवाना। पांच पुत्र हो ही अग्नि समाना।।
ता से जीती सकै नहिं कोई। वियावंत गुण वेतवछे होई।।

-हे गौरी! जो तुमने मन वचन और कर्म से मुझे पूछा है, इसलिए मिथ्या वचन नहीं कहूँगा। जो स्त्री इस प्रकार नियम पूर्वक सूर्य भगवान की पूजा करें उसके ऊपर शक्तिशाली सूरज भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। उस

बांझ स्त्री को पाँच अग्नि-सदृश पुत्र प्राप्ति होता है। ये पुत्र ऐसे विद्यावान व सुलक्षण होते हैं कि उन्हें पराजित करना किसी के वश की बात नहीं।

।।दोहा।।

बांझ त्रिया मन लाय कै टेक धरै व्रत ध्यान।
नीहचै पाँच पुत्र होई जोधा अग्नि समान।।

इति श्री सूरज महातम्ये महा पुराणे पाँच पुत्र पावतोनाम प्रथमोध्यायः।।

यदि सूरज भगवान की व्रत कथा व ध्यान-नियम आदि का पालन बांझ स्त्रियाँ करें तो निश्चय ही उसे अग्नि सदृश जाजल्यमान वीर योद्धा-पुत्रों की प्राप्ति होगी।

सूरज पुराण महात्म्य में **पाँच पुत्र प्राप्ति** नामक **प्रथम अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

सूरज कथा है अमृतवानी। मन अस्थिर कैर सुनहू भवानी।।
कुष्ठ वरन् होई जाके अंगा। सो इह कथा करै प्रसंगा।।
रवि दिन भोजन करै अलोना। यहूप सुवास चड़ावै दोना।।
विप्र बुलाइ के होम करावै। वो ही भस्म लै के अंग लगावै।।
नेहचै कुष्ट वरन च्छै जाई। धन महिमा द्वै सूरज गुसाई।।

-हे भवानी! मन स्थिर कर सूरज की कथा जो अमृत वाणी समान है, सुनें। जिस मनुष्य के अंग कुष्ठ रोग-ग्रस्त है, उसे रविवार को बिना नमक के भोजन करना पड़ेगा। तत्पश्चात सुवासित-पुष्प अर्पण कर

ब्राह्मणों को बुलाकर होम कराएँ। होम के पश्चात् भस्म को अंग पर मलें।

।।दोहा।।

जाके अंग कुष्ट होइ सो इह सुनै पुराण।
नीहचै सूरज प्रताप तै पावै कायादान।।

-इस प्रकार कुष्ठ-ग्रस्त अंग का क्षय निश्चय ही होता है। धन्य है इंद्रियों के स्वामी (गोसाईं) सूरज भगवान की महिमा।

जो कुष्ठ रोगी इस पुराण का श्रवण करता है उसे सूरज के प्रताप से निश्चय ही नीरोग काया की प्राप्ति होती है।

श्री विश्वनाथ शास्त्री के अनुसार-सूर्य मानवीय जीवन, प्रज्ञा और विज्ञान के आदि उत्स हैं। सूर्य से ही ब्रह्माण्ड उत्सर्गित है।

पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिक सूर्य को निम्न भाषा में कहते हैं-Sun the star which was governs illuminates the earth other bodies forming the solar system. By the patient efforts of astronomers and physicists a vast body of knowledge of which her we can, but give the outline, has been gained regarding it. For convenience we condense such of this information as admits of the treatment into the subjoined table.--Chambers Encyclo Pedia, Vol.IX (1904 Edi.)

अर्थात् यह जो सूर्य है, वह प्रचंड गर्म नक्षत्र है। यह पृथ्वी का नियामक और प्रकाशक है। इसकी गति के अनुसार ही महीनों का निर्माण और विभाग हुआ है। ज्योतिष-शास्त्र और चिकित्सा-विज्ञान की प्रणालियों के लिए यह बहुत उपयोगी है। देह-रचना और रोग के हटाने में यह प्रभूत सुविधा प्रदान करता है। भारतीय पुरातत्वीय चिकित्सकों का भी सम्मत है-

'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्।' भास्कर की उपासना एवं प्रार्थना से ही आरोग्य मिलता है। ऋग्वेद (मं.7, सू.62, मं.1) में ठीक इसी तरह का भाव है।

यथा-

उत सूर्यो बृहदर्चाष्य श्रेत् पुरु
विश्वा जनिम मानुषणाम्।
समो दिवा ददृशे रोचमानः
क्रत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।।

अर्थात्-ये सूय्र जो सबके प्रेरक हैं, वे अत्यन्त तेजोमय हैं। ऊपर में स्थित होकर भी ये नागरिकों को तेजवान् करते हैं। उनकी उपयोगिता कहाँ तक कही जाए? वे समान रूप से हमारे-हम सभी के, उपयोगी-समूहों के उत्पादक हैं। प्रतिदिन, प्रतिक्षण मन को भानेवाले ये देव इस जगत के नियामक हैं, तत्वों के संपादक हैं और सभी साधनों के दाता हैं। इसलिए तत्वदर्शियों-(विज्ञानियों) द्वारा ये सर्वदा स्तुत्य हैं। पुण्य-कार्य, मंडल-कार्य और शुभ कार्य के बनानेवाले हैं। इनका उदय कितना विचित्र है। चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ.1। 115।1, ऐ.आ.3।9, अथर्व.13।2।35, वा.य.7।42, तै.सं.1।4।43, तै.ब्रा. 2।8।7।3, तै.आ.1।7।6, नि.12।16)

सायणभाष्य के अनुसार ये जगन्मात्र के आत्मस्वरूप (परमात्मा) सूर्य स्थावर-जंगम सभी प्राणियों को अपने तेजोमय प्रकाश से जागृत करते हैं। इनके किरण समूह जीव में जीवन-संचार करते हैं। मित्र, वरुण, अग्नि, चक्षुः, प्राण, अपान, जठर, वायु और जल के ये अद्भुत प्रवर्तक हैं। ये चक्षुःस्वरूप के स्रष्टा एवं सर्वत्र अंतर्यामी रूप से विद्यमान हैं। अथर्ववेद (2।32।1) में कहा है-

'उद्यन्तादित्याः क्रिमीन् हन्तु विम्रोचन् हन्तु रश्मयः।'

अर्थात् आदित्य अपनी रश्मियों से जीवन के सभी दोषों से मुक्त करते हुए रोगों के कीटाणुओं को मार देते हैं, जीवन को रोगमुक्त कर स्वस्थ बनाते हैं। ऋग्वेद (8।29।10) में लिखा है-

'अर्चन्त एके महिसाममन्वत तेन सूर्यमरोचयन्।'

एकमात्र सूर्य की अर्चना से ही प्राणी भारी-से-भारी कार्य में सफलता तथा सर्वज्ञता पाते हैं। अतएव सभी लोग सर्वोत्पादक इन भगवान सूर्य को सबसे अधिक चाहते हैं।

इति श्री सूरज महात्मे महापुराण कुष्टिकाया दान वरनोनाम द्वितीयोध्यायः

सूरज महापुराण महात्म्य द्वारा **कुष्टि काया दान** नामक **द्वितीय अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

सूरज कथा मै कहो बुझाई। मन वच कर्म सुनहू वितलाई।।
जाके वरन अंग महँ होई। अस्थिर कथा पढितर सोई।।
जाके गाढ़ परै अति भारी। सो इह कथा करै अनुसारी।।

-हे गौरी! मैं जिस सूरज भगवान की कथा समझा रहा हूँ उसे मन, वचन, कर्म समन्वित कर श्रवण करना। इस कथज्ञ को मन-वचन-कर्म से स्थिर होकर उसी मनुष्य को सुनना चाहिए जिसके गात्र वर्ण असामान्य हो गया हो।

पाँच व्रत नर करे अतवारा। मनविच कर्म कथा अनुसारा।।
अगर चंदन लेपन करई। निस दिन ध्यान सूरज पर धरई।।
निहचै वरनन सकल मिटि जाई। धन्य महिमा है सूरज गुसाई।।

यदि मनुष्य पाँच रविवार सूरज की व्रत नियमानुसार करे अंग पर धूप-चंदन का लेपन करे व दिवा-रात्रि सूरज भगवान का ध्यान करें, निश्चय ही सूरज की महिमा से कुष्ठ रोग की समाप्ति हो जाती है।

।।दोहा।।

जाके वरन अंगम होई सो नित सुनै पुराण।
धन्य प्रताप आदित कर महिमा सूरज कहौ बखान।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे अंग वरनोनाम तृतीयोध्यायः।।

-जिसके अंग पर कुष्ठ रोग हो, वह इस पुराण का श्रवण करें। आदित्य भगवान के इस महिमा का बखान कर मैं धन्य हुआ।

सूरज महापुराण महात्म्य में **अंग वर्ण** नामक **तृतीय अध्याय** की समाप्ति हुई।

जनश्रुति के अनुसार मयूर को कुष्ठरोग हो गया था तथा इस भयंकर रोग से त्राण पाने के लिए उन्होंने भगवान सूर्य की उपासना की एवं भगवान सूर्य को प्रसन्न कर पुनः स्वास्थ्य लाभ किया। इस जनश्रुति में सत्यांश कितना है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु इतना अवश्य है कि भारतीय परंपरा में प्रारंभ से ही सूर्य को इस रोग से मुक्त करनेवाला देवता माना गया है।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल में इसका उल्लेख मिलता है। वहाँ सूर्य को सभी चर्मरोगों तथा अनेक अन्य भीषण रोगों का विनाशक बताया गया है-"सूर्य उदित होकर और उन्नत आकाश में चढ़कर हमारा मानसरोग (हृदयरोग), पीतवर्णरोग (पीलिया) तथा शरीररोग विनष्ट करें। मैं अपने शरीररोग को शुक एवं सारिका पक्षियों परं न्यस्त करता हूँ। आदित्य मेरे अनिष्कारी रोग के विनाश के लिए समस्त तेज के साथ उदित हुए हैं।" इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि सूर्योपासना से न केवल

शारीरिक अपितु मानसिक रोग भी विनष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक सूर्योपासक अपनी आधि-व्याधि के शमन के लिए इन मंत्रों को जपता है। सायण के विचार से इन्हीं मंत्रों का जप करने से प्रकण्व ऋषि का चर्मरोग विनष्ट हो गया था।

सूर्योपासना से कुष्ठ रोग का निवारण हो जाता है, यह धारणा न केवल भारतीयों में ही बद्धमूल थी, अपितु प्राचीन काल से ही पारसियों में भी मान्य थी। हेरोडोरस के अनुसार कुष्ठरोग का कारण सूर्य भगवान के प्रति अपराध करना था। उसके इतिहास की प्रथम पुस्तक में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है-'कोई भी नागरिक जो कुष्ठरोग या श्वेतकुष्ठ से ग्रस्त होता था, नगर में प्रविष्ट नहीं होता था, न वह अन्य पारसियों से मिलता-जुलता था तथा अन्य लोग यह कहते थे कि इसके इस रोग का कारण सूर्य के प्रति किया गया कोई अपराध है। ("Whatsoever one of the citizens has leprosy of the white leprosy does not come into city, nor does he mingle with the other Persians. And they say that he contracts these (diseases) because of having committed some sin against the Sun." Quackenbos, Sanskrit Poems of Mayura. P.35) इससे यह भी ज्ञात होता है कि पारसियों का यह विश्वास था कि जो देवता इस प्रकार के संक्रामक रोगों की उत्पत्ति का कारण है, केवल वही उस रोग का विनाशक हो सकता है।

आज भी भारतवर्ष में कई स्थानों पर इस प्रकार की धारणा प्रचलित है कि सभी प्रकार के चर्मरोगों का विनाश आदित्योपासना से हो जाता है। अयोध्या के निकट सूर्यकुंड नामक एक जलाशय है। जनश्रुति है कि उस कुंड में स्नान करने से सभी प्रकार के चर्मरोगों का विनाश हो जाता है। मिथिला में भी ऐसी धारणा है कि कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन सूर्योपासना करने से मनुष्य को किसी प्रकार का चर्मरोग नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त अन्य सभी पौराणिक कथाओं को अंधविश्वास कहनेवाले वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि सूर्य-किरणें सभी प्रकार के चर्मरोगों के विनाश के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं। आजकल तो अनेक चिकित्सालयों में सूर्य की किरणों से ही कुष्ठरोग-ग्रस्त लोगों का उपचार किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्य ही एक ऐसे देवता हैं, जिनकी उपासना समस्त जाति करती है। सूर्योपासना की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है और आज भी प्रायः सर्वत्र प्रचलित है।

।।चौपाई।।

सूरज कथा मै कहौ बुझाई। मन अस्थिर करै सुनहू मन लाई।।
जो नर होइ अंधा दोउ लोचन। सो यह कथा सुनै दुख मोचन।।
निस दिन करै अलोन अहारा। विविध भांति करै नेम अचारा।।

-हे भगवान! मैं तुम्हें सूरज महिमा की कथा सुनाता हूँ। मन स्थिर कर इस कथा को सुनने की आवश्यकता है। यदि यह कथा कोई अंधा मनुष्य सुन लें तो अवश्य ही उसके कष्ट का निवारण हो जाएगा। इस अंधे मनुष्य को रात दिन बिना लवण का भोजन व नाना नियम सहित आचरण का पालन करना होगा।

यहाँ भगवान सूर्य का सर्वनेत्ररोगहर चाक्षुषोपनिषद का वर्णन किया गया है। इसमें सूर्य का व्रत एक वर्ष या 30 रविवार या 12 रविवार करने का नियम है। व्रत के दिन लाल रंग का वस्त्र धारण कर 'ऊँ ह्रं ह्रीं ह्रौं सः सूर्याय नमः' मंत्र का 12 या 5 या 3 माला का जप कर शुद्ध जल, रक्त चंदन, अक्षत, लाल पुष्प और दूर्वा से सूर्य को अर्घ्य दे। भोजन में गेहूँ की रोटी, दलिया, दूध, दही, घी और चीनी खाएँ। नमक का प्रयोग बिल्कुल न करें। इस व्रत के प्रभाव से तेजस्विता बढ़ती है तथा शारीरिक रोग शांत होते हैं। चक्षु-रोग का निवारण व आरोग्यता प्राप्त होती है।

पीपर ब्रिच्छ तर सुनै पुराण। पावै लोचन अंध बलवाना।।
जो यह कथा सचेतत मन लावै। अंधा लोचन निहचै पावै।।

-उसे पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर इस पुराण का श्रवण करना होगा। इस प्रकार यदि चैतन्य सहित इस कथा का मनन करें तो अंधे को भी नेत्र की प्राप्ति हो जाती है और वह बलवान बन जाता है।

अंधा लोचन पावै जो जानै प्रभु एक।
पुलकित प्रीम पुनीत तै धरै कथा पर टेक।।

-प्रभु सूरज भगवान की कथा प्रेम से सुनते ही अंधे को भी प्रभु पुलकित होकर नेत्र प्रदान करते हैं।

सोमचैतन्य श्रीवास्तव इस उपासना का वर्णन करते हुए कहते हैं- मनुष्य को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति उसके द्वारा किए गए अपने कर्म, आचार एवं आहार-विहार आदि के अनुसार होती है। रोगजन्य क्लेशों के मूल कारण भी उसके पूर्वजन्मकृत कर्म तथा मिथ्या आहार-विहारजन्य दोष के प्रकोप हैं। धर्मानुष्ठान, पुण्यकर्माचरण एवं सुविहित औषध सेवन से भी जो रोग शांत नहीं होते हैं, उन्हें पूर्व जन्मकृत पाप से उत्पन्न समझना चाहिए। जब तक यह पूर्व जन्म का किया हुआ पाप-दोष निर्मूल नहीं होता, तब तक वह व्याधि रूप में पीड़ा देता रहता है। ऐसे पाप-दोष की शांति के लिए प्रायश्चित्त, देवाराधन, देवाभिषेक, जप, होम, मार्जन, दान, दिव्य मणि एवं यंत्र का धारण, अभिमंत्रित उत्तम औषधि का सेवन आदि के रूप में दैवव्यापाश्रय चिकित्सा का विधान मिलता है। चरक (सूत्र.अ.11, चिकित्सा.अ.3), अष्टांगहृदय (चिकित्सा.अ.19) एवं वीरसिंहावलोक आदि कई ग्रंथों में अनेक स्थानों पर दैवव्यापाश्रय चिकित्सा करने का विधान मिलता है।

भारतीय दर्शन पिण्ड एवं ब्रह्मांड में अभेद मानता है। छांदोग्य एवं बृहदारण्यकोपनिषद में अक्षिपुरुषविद्या (उपकोसलविद्या-) प्रकरण में चक्षुर्मण्डल तथा सूर्यमंडल में अभेददृष्टि रखकर उपासना करने का वर्णन मिलता है। वस्तुतः सृष्टि-व्यवस्था में अध्यात्मक और अधिदैवत जगत् परस्पर उपकार्योपकार रूप में अवस्थित हैं। सर्वलोकचक्षु भगवान सूर्य की पिंड में चक्षुःशक्ति के रूप में प्रविष्ट हुए हैं। अतः वे ही प्राणियों के दृष्टिशक्ति के अधिष्ठाता देव हैं। इसलिए दिव्य दृष्टि की प्राप्ति एवं नेत्रगत रोगों को दूर करने के लिए भगवान सूर्य की आराधना की जाती है।

परशुरामकल्प सूत्र के परिशिष्ट एवं श्रीउमानन्दनाथकृत नित्योत्सव में दूरदृष्टि की सिद्धि प्रदान करनेवाली चक्षुष्मतीविद्या का वर्णन मिलता है। सोलह मंत्रों से समन्वित समष्टिरूपिणी यह विद्या है। मूलाधार में ध्यान केंद्रित करके इसका जप किया जाता है। इस विद्या के सिद्ध होने पर साधक अन्य देश या द्वीप में स्थिर धन एवं अन्य पदार्थों को भी यथावत्-रूप में देख एवं जान सकता है। इस विद्या का विनियोग, ध्यान एवं पाठ निम्नलिखित रूप में मिलता है-

विनियोग-

चक्षुष्मतीमन्त्रस्य भार्गव ऋषिः, नाना छन्दांसि, चक्षुष्मती देवता, तत्प्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

ध्यान-

चक्षुस्तेजोमयं पुष्पं कन्दुकं बिभ्रतीं करैः।
रौप्यसिंहासनारूढां देवीं चक्षुष्मतीं भजे।।

चक्षुष्मतीविद्या का प्र.ठ-

ऊँ सूर्यायाक्षितेजसे नमः, खेचराय नमः, असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। उष्णो भगवान शुचिरूपः। हंसो भगवान शुचिरप्रतिरूपः।

वयःसुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्धस्मान्निधयेव बद्धान्।। पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। श्रीमहाविष्णवे नमः।।

इति षोडशमन्त्रसमष्टिरूपिणी चक्षुष्मतीविद्या दूरदृष्टिः सिद्धिप्रदा।

वीरसिंहावलोक में नेत्र के रोगी के लिए निम्नलिखित दैवीचिकित्सा का विधान मिलता है।

(1) अक्षिसम्भवरोगाणामाज्यं कनकसंयुक्तम्।

अर्थात्-नेत्ररोगी विधिपूर्वक स्वर्णयुक्त घृत की दस हजार आहुतियाँ अग्नि में दे।

(2) जब तक रोग से मुक्ति न हो तब तक प्रतिदिन-ऊँ **चक्षुर्मे धेहि चक्षुषे चक्षूर्विख्यै तनूभ्यः। स चेदं वि च पश्येम।।** (-काठकसं. 9।11।78) इस मंत्र का जप करे एवं ब्राह्मण को मुद्गान्न (मूँग) का दान दे। तथा-

(3) '**वयः सुपर्णो ... सुपर्णोऽसि**' ॐइस मंत्र से घृतसहित चरु की एक हजार आठ आहुतियाँ दे।

(4) मन्ददृष्टि होने पर '**उद्यन्नद्यमित्रमः**' इत्यादि ऋचाओं से हजार कलशों द्वारा भगवान सूर्य का अभिषेक करे।

(5) गरुड़गायत्री-'**ॐ पक्षिराजाय विद्महे सुवर्णपक्षाय धीमहि। तन्नो गरुडः प्रचोदयात्।।**' इस मंत्र से घृत मिले हुए तिल की आहुति आँख के रोग को दूर करती है।

(6) नक्तान्ध व्यक्ति-'**विष्णो रराट., प्रतद्विष्णु., विष्णोर्नुकम्.**'-इसमें से किसी एक मंत्र का जप करे तथा शुद्ध एवं पवित्र हो पूर्वाभिमुख बैठकर समिदाज्य तिल की (लकड़ी, घी, तिल की) एक सौ आठ आहुतियाँ प्रतिदिन अग्नि में दे।

नेत्र रोगों को दूर करने के लिए पुराणोक्त नेत्रोपनिषद अथवा यजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद का जप करने का विधान भी मिलता है। इन दोनों के पाठों में बहुत ही कम अंतर है। दोनों ही उपनिषदें 'चक्षुष्मतीविद्या' के नाम से प्रसिद्ध हैं, परंतु इनके प्रयोग में भिन्नता मिलती है। (प्रयोग-विधिसहित इनका पाठ पहले दिया गया है।)

नेत्रोपनिषद का पाठ कर्मठगुरु में मिलता है। रविव्रत के अनुष्ठानपूर्वक रोग के अनुसार इसका एक सौ, एक हजार या दस हजार पाठ पुरश्चरण के रूप में करना चाहिए। योगीगुरु के अनुसार सूर्योदय के एक घंटा पश्चात तक एवं सूर्यास्त के एक घंटा पूर्व काल से लेकर इसका पाठ करना आवश्यक है। नेत्ररोग से पीड़ित साधक खड़े रहकर अथवा एक पैर पर स्थित होकर भगवान सूर्य के पूर्ण अरुणमंडल को दोनों नेत्रों से देखता हुआ हृदय में जप करे एवं शनैः-शनैः (सूर्यमंडल का तेज नेत्रों को सह्य होने की क्षमता के साथ-साथ) जप की संख्या में वृद्धि करे।

पूर्णारुणे दिनमणौ नयनोत्पलाभ्या-
मालोकयेद्धदि जपन् ननु निर्निमेषम्।
आरूढ उन्नतपदे शनकैः प्रवृद्धि
कुर्यादुपासनविधिं प्रतिसंध्यमेतत्।।

सूर्योदयानन्तरहोरैकमात्रमस्ताच्च प्राक् तावदेवेति भावः (योगीगुरुः)।

कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् के अंतिम भाग में नेत्रोपनिषद् की अपेक्षा कुछ मंत्र अधिक मिलते हैं। इस उपनिषद् के पाठ के आरंभ एवं अंत में-'**सहना ववतु.**' इस शांतिमंत्र का पाठ करना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों उपनिषदों की विद्या सिद्धि का उपाय यह बताया गया है कि ये विद्याएँ आठ ब्राह्मणों को ग्रहण करवा देने पर सिद्ध हो जाती हैं। इन्हें लिखकर आठ शुचि सुसंस्कृत ब्राह्मणों को ग्रहण करवा देने पर सिद्ध हो जाती हैं। इन्हें लिखकर आठ शुचि सुसंस्कृत ब्राह्मणों को दे तथा उन्हें शुद्ध उच्चारण सहित पाठ विधि सिखा दे-ऐसा करने पर इनकी सिद्धि हो जाती है। उसके बाद इन्हें अपने या अन्य के हित के लिए प्रयोग में लाना चाहिए।

बत्तीसायन्त्र सूर्योपासना से संबद्ध है तथा सर्वदुःख निवारण एवं अभीष्टकार्य की सिद्धि के लिए इसके दो अन्य प्रयोग कर्मठगुरु में मिलते हैं-

(1) रविवार के दिन इस यंत्र को भोज पत्र या कागज पर हरिद्रा के रस से अनार की लेखनी के द्वारा लिखे एवं इस यंत्र के नीचे अपना मनोरथ लिख दे। पुनः इस पर रुई बिछाकर यंत्र लिखित कागज को लपेट दे और बत्ती रूप में बनाकर इससे ज्योति प्रज्वलित करे। इसके बाद हरिद्रा की माला से-'**ऊँ ह्रीं हंसः**'-इस भास्करबीज मंत्र का एक हजार एक सौ बार जप करे। इस प्रकार लगातार सात रविवार को निर्दिष्ट विधि का अनुष्ठान कर मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त होकर अत्यन्त सुख पाता है।

(2) रविवार के दिन प्रातःकाल उठकर स्नान करके हरिद्रा रस से कांस्य पात्र में बत्तीसा यंत्र लिखे और उसेक ऊपर चतुर्मुखी दीपक की स्थापना करके सूर्योदय होने पर मंत्र का पंचोपचार पूजन करे। दोनों

हाथों से इस यंत्र पात्र को उठा ले और सूर्य के सम्मुख स्थित होकर-'**ॐ ह्रीं हंसः**'-इस मंत्र का जप करे। सूर्य दिन में जैसे-जैसे परिवर्तित होते जायँ, वैसे-वैसे साधक भी घूमता जाय। सूर्य के अस्त होने पर उन्हें अर्घ्य देकर प्रणाम करे; इस प्रकार अनुष्ठान को सम्पन्न करके मिष्टान्न भोजन कर भूमि पर शयन एवं ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे। इस प्रकार कार्य की गुरुता के अनुसार प्रति रविवार को सवा मास, तीस मास, छः मास अथवा एक वर्ष तक इसका अनुष्ठान करने से भगवान् श्री सूर्य की कृपा से सभी दुरूह कार्य सिद्ध होते हैं।

चक्षुष्मतीविद्या के चमत्कार का एक अनुभव पूर्ण प्रयोग,पाठकों के लाभार्थ दिया जा रहा है। यह प्रयोग कुछ दिन पूर्व 'स्वास्थ्य' पत्रिका के अनुभवांक (फरवरी, 1978) में छपा था। लेखक के विवरण के अनुसार राजपीपला-(गुजरात-) के प्रसिद्ध डॉक्टर श्रीनरहरि भाई को सन् 1940 में Detachment of Retina नामक भयंकर नेत्ररोग हुआ। इस रोग में आँख का पर्दा फट जाता है एवं ज्योति आंशिक रूप में या सर्वांश में चली जाती है। सर्जनों के प्रयत्न असफल रहने पर डॉक्टर साहब अत्यन्त निराश हो गए। उक्त डॉक्टर साहब के घर पर प्रातःस्मरणीय पूज्य महात्मा पुरुष श्रीरंग अवधूत महाराज आया करते हैं। ये महात्मा ईश्वर का दर्शन किये हुए पवित्र सिद्ध अवतारी पुरुष माने जाते हैं। डॉक्टर साहब की प्रार्थना पर पूज्य श्रीअवधूत जी महाराज ने उन्हें प्रसाद स्वरूप विधिसहित 'चक्षुष्मतीविद्या' प्रदान की। इस विद्या का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से डॉक्टर साहब को नेत्रज्योति प्राप्त हुई। उसके बाद उन्होंने कई वर्षों तक जनसेवा की तथा उनकी दृष्टि-शक्ति अब भी बनी हुई है। डॉक्टर साहब कहते हैं कि इस चक्षुष्मतीविद्या के प्रभाव से आज मेरी नेत्र-ज्योति है, वरना मैं कबका अंधा हो गया था। उन्होंने इस विद्या की प्रतियाँ छपवाकर निःशुल्क प्रसादी के रूप में जनसमुदाय को वितरित की हैं। श्रद्धा एवं धैर्य के साथ विधिपूर्वक इस विद्या का प्रयोग करने से नेत्र के अनेकविध रोग सर्वांश में दूर हो सकते हैं।

पूज्य श्री अवधूत जी द्वारा बनायी गयी चक्षुष्मतीविद्या का पाठ एवं प्रयोग की विधि नीचे दी जा रही है।

प्रयोगविधि-प्रातः शौच आदि से निवृत्त होकर स्नान-सन्ध्या-वंदन के बाद पूजास्थान पर बैठिए और आचमन, प्राणायाम करने के बाद नेत्ररोग की निवृत्ति के लिए चक्षुष्मतीविद्या के जप का संकल्प कीजिए। पूजा-द्रव्य के अभाव में मानसोपचार से पूजन कीजिए। इस प्रकार भगवन् सूर्य की पूजा करने के बाद एक कांस्य धातु की थाली या अन्य किसी चौड़े मुखवाले कांस्यपात्र में शुद्ध जल भरकर उसे ऐसी जगह पर रखिए, जिससे उस पात्र के जल में सूर्य देवता का प्रतिबिंब दिखता रहे। नेत्ररोगी साधक को उस पात्र के सामने पूर्वाभिमुख बैठकर पात्र के जल के भीतर सूर्य-प्रतिबिंब की ओर दृष्टि रखकर भावनायुक्त अर्थानुसंधान के साथ दस, अट्ठाईस या एक सौ आठ पाठ करना चाहिए। यदि नित्य इतने पाठ के लिए समथ न मिले तो प्रतिदिन भले ही दस बार पाठ किया जाए, परंतु रविवार के दिन अट्ठाईस या एक सौ आठ पाठ करने का प्रयत्न अवश्य किया जाए। यदि प्रारंभ में नेत्र सूर्य-प्रतिबिंब की ओर देखना सहन न कर सकें तो घृत-दीप की ज्योति की ओर देखते हुए पाठ कर सकते हैं। (नेत्रों के अक्षम होने पर जल में प्रतिबिंबित सूर्य-बिंब की ओर देखते हुए ही पाठ करना चाहिए।) पाठ पूर्ण होने पर जप श्रीसूर्यनारायण को अर्पित करके नमस्कार कीजिए। फिर उस कांस्यपात्र स्थित शुद्ध जल से अधखुले नेत्रों में धीरे-धीरे छिटकाव कीजिए। जल छिटकने के बाद दोनों आँखें पाँच मिनट तक बंद रखिए। तत्पश्चात् सभी विधियाँ पूर्ण कर अपने दैनिक कर्म कीजिए।

पाठ के उपरांत नित्य -**'ॐ विर्चोदा असि वर्चो मे देहि स्वाहा'**-इस मंत्र को बोलते हुए गोघृत की दस आहुतियाँ अग्नि में देनी चाहिए। रविवार के दिन बीस आहुतियाँ आवश्यक हैं। यदि आहुति न दे सकें तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु यदि पाठक के साथ नित्य यज्ञाहुति भी दी जा सके तो उत्तम है।

मनविचकर्म अनुरोग दृढ़ भोजन करै अलोन।
रवि दिन हरषि सुचीत मन पहू पच छावै दोन।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुरोण अंधालोचन पावनोताम चतुर्थोध्यायः।

-यदि नेत्रहीन मनुष्य मन, वचन कर्म स्थिर कर, बिना लवण के भोजन करे व रविवार हर्ष सहित मन लगाकार सूरज का ध्यान करें, उसे नेत्र की प्राप्ति होती है।

सूरज महापुराण महात्म्य द्वारा **अंधा लोचन प्राप्ति** नामक **चतुर्थ अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

जात्रा करे नर चले विदिसा। सो इह पढ़ौ पुराण सरेसा।।
निहचै तासु सकल सिध होई। लाभ भवन चलि आवै सोई।
जो कोरिन होई अति भारी। सो इह कथा करै अनुसारी।।
निहचै ऋत सकल मिटि जाई। धन महिमा है सूरज गुसाई।।

-जो मनुष्य विदेश-यात्रा के लिए घर से चल पड़े उसे इस सरस पुराण का पाठ करना चाहिए। इस प्रकार उसकी यात्रा मंगलप्रद होगी। उसे प्रत्येक कार्य में सिद्धि प्राप्त होगी। शुभ लाभ से उसका घर भर जाएगा। यदि वह ऋण ग्रस्त है तब भी इस पुराण की कथा सुनना उसके लिए फलदायक होगा।

।।दोहा।।

जात्रा कर नर चले जब सो इह सुनै पुराण।
निहचै सकल मनोरथ पूरवै श्री भगवान।।

इति श्री महात्मे महापुराणे जात्रा करनोनाम पंचमोध्यायः

सूरज देव, जो इंद्रियों के अधिकारी हैं, उनकी कृपा से उसके सभी ऋणभार समाप्त हो जाएँगे। यात्रा के समय जो इस कथा का श्रवण करता है उसके सभी मनोरथ निश्चय ही पूर्ण होते हैं।

सूरज महापुराण महात्म्य से **यात्रा** करने की कथा से **पंचम अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

सुनहू उमा मैं कहौ बुझाई। मन विच कर्म सुनहू चित लाई।।
ऐसे महिमा आदित दवोः। तासु कर ही सुर नर मुनि सेवा।।
मिटे गाढ़ सकल तन जासु। पुलकित प्रेमहि हर्ष हुलासु।।

-शिव जी कहते हैं-हे उमा! मैं जिस कथा को समझा रहा हूँ उसे मन, वचन, कर्म सहित सुनो! मैं उस आदित्य देव की महिमा का गौन कर रहा हूँ जिसकी सेवा देवता, मनुष्य व मुनि जन करते हैं। इनकी महिमा-कथा जो प्रेम, पुलक व हर्ष से श्रवण करता है उसके सभी रोग-शोक मिट जाते हैं।

दीनानाथ निरंजन स्वामी। महिमा मुख ते वरनिन जाई।।
सूरज कथा मै कहु बुझाई। मन विच कर्म सुनहू मन लाई।।
दंडवत देही नर प्रति को ध्याना। सो तात लेइ हि कथा समाना।।

तेज प्रताप बरननहिं जाई। सूरज कथा पडे मन लाई।।
रहहि सुभ इह कथा पुनीता। सूर्य प्रताप मै भई उजीता।।

-वे देव द्ररिद्र-नाथ व निरंजन हैं। उनकी महिमा की गाथा वर्णन करने योग्य वाणी उपलब्ध नहीं है। जिस सूरज-महात्म्य की कथा मैं समझा रहा हूँ उसे मन-वचन-कर्म को स्थिर कर, दंडवत प्रणाम सहित ध्यान कर जो मनुष्य सुनता है उसे इस कथानुसार तन की प्राप्ति होती है अर्थात् वह निरोग होता है।

सूरज देव की तेजस्विता व प्रताप की महिमा वर्णन करना असाध्य है। इसलिए इस शुभ मंगलकारी पवित्र कथा को जो नर पढ़ लेता है वह सूर्य के समान प्रतापवान व उज्जवल हो जाता है। उज्जवल सूर्याधना रहस्य में बजरंग बली जी के अनुसार-

भगवान् सूर्यनारायण ही संसार के समस्त ओज, तेज, दीप्ति और कांति के निर्माता हैं। वे आत्मशक्ति के आश्रयदाता तथा प्रकाश-तत्व के विधाता हैं। वे आधि-व्याधि का अपहरण करते और कष्ट तथा क्लेश का शमन करते हैं और रोगों को आमूल-चूल हनन कर हमारे जीवन को निर्मल, विमल, स्वस्थ एवं सशक्त बना देते हैं।

यदि हम असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा अंधकार से प्रकाश-पथ की ओर जाना चाहते हैं, तो जगत्-प्रकाश-प्रकाशक भगवान् सूर्य की सत्ता-महत्ता को समझकर हमें उनकी आराधना और उपासना मनोयोग से करनी चाहिए।

वेदों में सूर्य को चराचर जगत् की आत्मा कहा गया है और इसी आत्मप्रकाश को बृहदारण्यक-उपनिषद् में देखने-योग्य, सुनने योग्य तथा मनन करने योग्य बताया गया है-आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृ.उ.2।4)

सौर-सम्प्रदाय वाले सूर्य को विश्व का स्रष्टा मानकर एक चित्त से उनकी आराधना करते हैं। पहले सौर-सम्प्रदायवालों की छः शाखाएँ थीं। सभी अष्टाक्षर-मंत्र का जप करते, लाल चंदन का तिलक लगाते,

माला धारण करते और सूर्य की भिन्न-भिन्न देवों के रूप में आराधना करते थे। कोई सूर्य की ब्रह्मा के रूप में, दूसरे विष्णु रूप में, तीसरी शिव के रूप में, चौथे त्रिमूर्ति के रूप में आराधना करते थे। पाँचवें संप्रदाय वाले सूर्य को ब्रह्म मानकर सूर्याबिंब के नित्य दर्शन कर षोडश उपचारों द्वारा उनकी पूजा करते थे और सूर्य के दर्शन किये बिना जल भी नहीं पाते थे। छठे संप्रदायवाले सूर्य का चित्र अपने मस्तक तथा भुजाओं पर अंकित करके सतत सूर्य का ध्यान करते थे। श्रुतियों, भविष्यत्, ब्रह्म आदि पुराणों, बृहत्संहिता तथा सूर्य शतक आदि में सूर्य के महत्व का वर्णन किया गया है। वेदों में कहा गया है कि-

'उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्रह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।'

(तै.आ.प्र.2, अ.-)

अर्थात्-'उदय और अस्त होते हुए सूर्य की आराधना, ध्यानादि करनेवाला विद्वान् ब्राह्मण सब प्रकार के कल्याण को प्राप्त करता है।'

भगवान् सूर्य परमात्मा नारायण के साक्षात् प्रतीक हैं; इसीलिए वे 'सूर्यनारायण' कहलाते हैं। सर्ग के आदि में भगवान् नारायण ही सूर्य रूप में प्रकट होते हैं; तभी तो सूर्य की गणना पंचदेवों में है। वे स्थूल काल के नियामक, तेज के महान् आकर, इस ब्रह्मांड के केंद्र तथा भगवान की प्रत्यक्ष विभूतियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इसीलिए संध्योपासन में सूर्यरूप से भगवान की आराधना की जाती है। उनकी आराधना से हमारे तेज, बल, आयु और नेत्रों की ज्योति की वृद्धि होती है।

इस जगत् में सूर्य भगवान की आराधना करनेवाले अनेक राष्ट्र हैं। शास्त्रीय शोध जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे यह सिद्ध होता जा रहा है कि सूर्य में उत्पादिका, संरक्षिका, आकर्षिका और प्रकाशिका-सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं। भगवान् सूर्य अपनी शक्ति अपने कुटुंब के प्रत्येक सदस्य-चंद्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि आदि को यथायोग्य परिमाण में नित्य प्रदान करते हैं। सूर्य-सिद्धांत ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। कहा जाता है कि

भगवान सूर्यनारायण ने 'मय' नामक असुर की आराधना से प्रसन्न होकर उसको यह ज्ञान दिया था। सूर्य ज्ञानदेव भी हैं।

यौगिक क्रियाओं के स्फुरण और जागरण में भी भगवान सूर्यनारायण की आराधना की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। महाकुंडलिनी नाम की शक्ति, जो समस्त सृष्टि में परिव्याप्त है, व्यक्ति में कुंडलिनी के रूप में व्यक्त होती है। प्राणवायु को वहन करनेवाली मेरुदंड से संबद्ध इडा और पिंगला और सुषुम्ना-ये तीन नाडियाँ हैं। इनमें इडा और पिंगला को सूर्य-चंद्र कहा जाता है। इनकी नियमित साधना और आराधना से ही योगी षट्चक्र-भेदन कर कुंडलिनी-शक्ति को उद्बुद्ध कर सकने में सक्षम हो पाता है।

ज्ञानयोग और भक्तियोग के साथ-साथ सूर्यनारायण निष्काम कर्मयोग के भी आचार्य माने जाते हैं। इसीलिए समस्त ज्ञान-विज्ञान के सारसर्वस्व भगवद्गीता (4/1) के अनुसार योगशिक्षा सर्वप्रथम भगवान श्रीकृष्ण ने सूर्यनारायण ही दी।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

भगवान श्रीकृष्ण की उस दिव्य निष्काम कर्मयोग की शिक्षा को सूर्यनारायण ने इस प्रकार आत्मसात कर लिया है कि तबसे वे नित्य, निरंतर, नियमित रूप से गतिशील रहकर संपूर्ण संसार को कर्म करने का पथ-प्रदर्शन करते चले आ रहे हैं। इसीलिए भगवान सूर्यनारायण की आराधना करनेवाले लोगों को भी निष्काम कर्मयोग करने की नित्य नयी शक्ति, शारीरिक स्फूर्ति तथा राष्ट्र, समाज और विश्व की सेवा करने की अनुपम भावभक्ति प्राप्त होती रहती है। सौरोपासना का रहस्य भेद करते हुए शिवानंद जी कहते हैं-

वैदिक धर्म के अनुसार देवता-देवियों की संख्या गणनातीत है। 'हिंदुओं के तैंतीस कोटि देवता है' इस कथन का तात्पर्य संख्या से नहीं है। इसका अर्थ यह है कि अगणित प्राणमय विभिन्न आकृतिपूर्ण यह जो सृष्टि है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के रूप में इसके पीछे कोई सर्वशक्तिमान पुरुष है। देवताओं, देवियों के असंख्य नाम उसी की

विभिन्न शक्तियों के वाहक मात्र हैं। वैदिक धर्म में बहुदेवत्ववाद की जो कल्पना की गयी है, वह सब उस सर्वशक्तिमान के असंख्य रूप की कल्पना मात्र ही है। कारण, वेद कहते हैं कि वस्तुतः एक आत्मा ही विश्वव्याप्त है। अर्थात् सभी रूपों में वे एक ही हैं। ऋग्वेद की मंत्र-संख्या 3।53।8 में यह स्पष्ट कथन है-'रूपंप्रतिरूपं बभूव।' निरुक्त भगवान कहते हैं-महाभाग्याद् देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते। (7।1।4) अतएव इसके द्वारा यह सिद्धांत निरूपित होता है कि विभिन्न देव-देवियों की विभिन्नता रूप में, गुण में है; किंतु मूल में नहीं है। अर्थात् मूल तत्व एक होने के बावजूद भी विभिन्न गुणों के परिप्रेक्ष्य में इसी का संख्यातीत संबोधन होता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि वह एक कौन है? किसकी द्युतिच्छटा सभी देवी-देवताओं में प्रतिभासित होती है? इसके उत्तर में ऋग्वेद कहता है-सूर्य आत्मा जगतस्तास्थुषश्च। परमात्मा सूर्य ही नित्य भास्वर अनन्त ज्योति रूप से विभूषित हो रहे हैं।

वेद और उपनिषद् की दृष्टि में भी-'हंसः शुचिषद्' और (ऋक्.4।40।5) 'आ कृष्णेन रजसा.' तथा (ऋ.1।35।2) तद्भास्कराय विद्महे प्रकाशाय धीमहि तन्नो भानुः प्रचोदयात्। (मैत्रायणीय-कृष्णयजुर्वेद 2।9।9) आदि से यह मान्य है।

अतएव आत्म-स्वरूप सूर्यनारायण ही प्रधान देवता हैं। विभिन्न मंत्रों में यही प्रतिपादित हुआ है। वे (सूर्य) विराट पुरुष नारायण हैं। इसीलिए वेद भी उनके प्रति प्रार्थना-मुखर हैं।

वे ही विराट पुरुष सूर्यनारायण हैं। जिनके नेत्र से अभिव्यक्ति होती है, जो लोक-लोचनों के अधिदेवता हैं, जिनकी उपासना द्वारा समस्त रोग, नेत्रदोष तथा ग्रहबाधा दूर होती है, जिनकी उपासना से सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, अनादिकाल से वर्णश्रेष्ठ द्विजगण जिनके उद्देश्य से प्रतिदिन अर्घ्यांजलि निवेदन करते हैं, वे ही चर एवं अचर जगत् के जीवन-देवता हैं। उन्हीं ज्योतिर्घन, जीवन-स्रष्टा, ज्ञानस्वरूप भगवान्

श्रीसूर्यनारायण को हम प्रणाम करते हैं। सूर्यनारायण ही विराटपुरुष हैं, यह निःसंदेह रूप से स्वीकार किया जा सकता है।

इनसे अभिन्न शक्तित्रय-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं। ये सभी भगवान सूर्य के अभिन्न अंग स्वरूप हैं। इनमें किंचित भी भेद नहीं है। इसका प्रमाण शास्त्र ने इस प्रकार दिया है-

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एव हि भास्करः।
त्रिमूर्त्यात्मा त्रिवेदात्मा सर्वदेवमयो रविः।।

(सूर्यतापनी-उपनिषद् 1।6

इसकी पुष्टि शिवपुराण से भी हो जाती है-
आदित्यं च शिवं विद्याच्छिवमादित्यरूपिणम्।
उभयोरन्तरं नास्ति ह्यादित्यस्य शिवस्य च।।

अर्थात् शिव और सूर्य दोनों अभिन्न हैं।

सूर्यनारायण की उपासना के विषय में पौराणिक दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं। सृष्टि के अनादि-काल से मनुष्य लोक और सौरमंडल का संबंध अच्छेद्य है। सौरमंडल में सूर्य, चंद्र आदि नवग्रह, त्रिदेव, साध्यदेव, मरुद्गण और सप्तर्षिगणों का निवास है। इन सबका प्रतिनिधित्व सूर्य ही करते हैं। तात्पर्य यह कि विश्व ब्रह्माण्ड में इस अचिन्त्य-शक्ति के नियामक तेजोराशि भगवान् भास्कर ही हैं। देहधारी प्राणी की संक्षेपतः तीन ही मुख्य अपेक्षाएँ हैं-तेज, भुक्ति और मुक्ति। इन तीनों की प्राप्ति के लिए वेद संध्योपासना को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। वर्ण-श्रेष्ठ द्विजातियों के लिए शास्त्र के शासन-'**अहरहः सन्ध्यामुपासीत**' के अनुसार यह सन्ध्योपासना ही सूर्य की उपासना है। इसके द्वारा चतुर्वर्ग का फल प्राप्त होता है; यथा-

मन्देहदेहनाशार्थमुदयास्तमये रविः।
समीहते द्विजोत्सृष्टं मन्त्रतोयांजलित्रयम्।।
गायत्रीमंत्रतोयाढ्यं दत्तं येनांजलित्रयम्।
काले सवित्रे किं न स्यात् तेन दत्तं जगत्रयम्।।
किं किं न सविता सूते काले सम्यगुपासितः।
आयुरारोग्यमैश्चर्यं वसूनि च पशूनि च।।
मित्रपुत्रकलत्राणि क्षेत्राणि विविधानि च।
भोगानष्टविधांश्चापि स्वर्गं चाप्यपवर्गकम्।।

(स्कन्दपु. काशीखंड 9।45-48)

जगत् में पंचभूतों के साथ प्राणि मात्र का संबंध अच्छेद्य है। इन पंचभूतों के अधिनायक पाँच देवता हैं। अतः प्राणिमात्र इन पंचदेवताओं के द्वारा विवृत हैं। इसीलिए कहा गया है-

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः।।

विष्णु आकाश के स्वामी हैं, अग्नि की महेश्वरी, वायु के सूर्य, पृथ्वी के विष्णु एवं जल के गणेश अधिदेवता हैं। अतएव इनके अस्तित्व के बिना पांच भौतिक देह का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इसी कारण सभी कर्मों में पूजा करने का विधान है।

आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
पंचदैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्।।

आयुर्वेदशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि शरीरस्थ पंचतत्वों में से किसी एक के कुपित होने पर नाना प्रकार के रोग होते हैं। इस विषय में चरक एवं सुश्रुत प्रमाण ग्रंथ थे। इन पंच तत्वों के बीच वायु प्रबलतम है। वायु-विकृति ही अस्वस्थता का प्रमुख कारण है। वायु के अधिदेवता भी सूर्य हैं, अतएव सूर्य की उपासना अवश्य करनी चाहिए।

पुराण-ग्रंथों में कुष्ठरोग के निवारणार्थ सूर्यदेव की उपासना की प्रधानता स्वीकार की गयी है। भविष्ण पुराण के ब्रह्मपर्व में पाया जाता है कि कृष्णपुत्र साम्ब दुर्वासा के शाप से कुष्ठरोगग्रस्त हो गए। इस कारण श्रीकृष्ण को दुःखी देखकर गरुड़ ने शाकद्वीप से वैद्यविद्यापारदर्शी पंडित-ब्राह्मणादि को लाकर उस रोग की निवृत्ति के लिये प्रार्थना की। उन ब्राह्मणों ने सूर्य-मंदिर की स्थापना करायी और साम्ब ने सूर्य की उपासना के द्वारा रोग से मुक्ति पायी।

ततः शापाभिभूतेन सम्यगाराध्य भास्करम्।
साम्बेनाप्तं तथारोग्यं रूपं च परमं पुनः।।

मयूर कवि भी 'सूर्यशतक' की रचना करके इस रोग से मुक्त हुए थे। प्राकृतिक कथा यही है कि प्राणि मात्र के लिए सूर्यपूजा एकांत प्रयोजनीय और अवश्य करणीय है। इस प्रकार सूर्य की उपासना पृथक्-पृथक् मास में पृथक्-पृथक् नामों से साल भर प्रति मास करनी चाहिए, शास्त्रों में निर्देश है-

चैत्र में धाता, वैशाख में अर्यमा, ज्येष्ठ में मित्र, आषाढ़ में वरुण, श्रावण में इंद्र, भाद्रपद में विवस्वान्, आश्विन में पूषा, कार्तिक में क्रतु, मार्गशीर्ष में अंशु, पौष में भग, माघ में त्वष्टा, फाल्गुन में विष्णु नाम से।

भारत में हिंदू-जाति में आदिकाल से इस पूजा और उपासना का प्रचलन है, इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, मानव जाति में आदिकाल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इसका

भूरि-भूरि प्रमाण पाया जाता है कि मानव जाति की चिंतनधारा के साथ-साथ सूर्य पूजा आदिकाल से ही संबद्ध है। सुप्रसिद्ध संस्कृतितत्ववेत्ता प्रो.ए.बी.कीथ ने कहा है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ग्रीक दर्शन में सूर्य पूजा का प्रमाण मिलता है। Ghales भी जिनका जन्म एशिया माइनर में 640 खृष्ट पूर्वार्द्ध (ईसा पूर्व) में हुआ था। उनका भी ऐसा ही मत है।

ग्रीक दार्शनिक Empedoeles ने सूर्य को अग्नि के मूल स्रोत के रूप में वर्णित किया है। और उन्होंने यह भी मत स्वीकार किया है कि सूर्य ही विश्वस्रष्टा हैं। हमारी उषा देवी की सूर्य-परिक्रमा की कथा और ग्रीक देश की अपोलो और वियना की कहानी इसी तथ्य की पोषक प्रतीत होती है। ग्रीक देश के भी विवाह में आज भी सूर्यमंत्र पढ़ा जाता है।

मैक्सिको में आदिकाल से ही प्रचलित मत यही है कि विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि की जड़ में सूर्य ही विद्यमान हैं।

हमारे देश में अति प्राचीनकाल से ही सूर्यमूर्ति (बुद्धगया के स्तूप की) एवं तत्कालीन शिलालेख और इलोरा की गुफाओं की सूर्यप्रतिमा इस तथ्य का उद्घाटन करती है कि अति प्राचीनकाल से ही सूर्यपूजा का प्रचार एवं प्रसार इस देश में चला आ रहा है; यहाँ तक कि जैन धर्म में भी देवतागणों के समूह में सर्वोच्च स्थान सूर्य का ही है अर्थात् वे देवाधीश हैं।

निदान, सूर्यनारायण की स्तुति-प्रार्थना एवं उपासना आदिकाल से ही प्रचलित है और चलती रहेगी। इस विषय में संदेह के लिये कोई स्थान नहीं है।

।।दोहा।।

अति महिमा आदित कर वरनै परम उछहि।
सुनहू उमा पुलकित तन कीरत प्रभु आगाहि।।

-इस प्रकार उमा बड़ी पुलकित हो, उत्साह के साथ आदित्य देव की कीर्ति व महिमा की कथा का अवगाहन करने लगी।

।।चौपाई।।

कहौ कथा पुनीतसु भवानी।। छटी महातम सुनहू भवानी।।
अगर चंदन कपूर की भांती। पूजा नाथ करहि बहू भाँती।।
जो मनि कामना उर महू राऐ। पुलक ध्यान धरी मुख ते भाखै।।
सो कारज पूरवही भगवाना। ऐसे ही प्रभु ज्ञान निधाना।।

-पुनः शिवजी उमा को संबोधित करते हुए कहते हैं-हे भवानी! मैं तुम्हें सूरज देव की छँठवा महात्म्य की कथा का वर्णन करता हूँ। जो पुरुष व स्त्री कार्तिक व चैत्र के महीने में सांझ के समय भगवान की आरति उतारते हैं... अगरू, चंदन, कर्पूर आदि बहुविध द्रव्य से उनकी पूजा करते हैं, सूरज देव का ध्यान अति पुलकित मन से कर उनकी महिमा का बखान करते हैं; उनके मनोकामना अवश्य पूर्ण हो जाता है। ऐसे भक्तों के प्रत्येक कार्य सिद्ध होता है। ज्ञान-निधान प्रभु सूरज देव की महिमा ऐसी ही महत्ता लिए हुए है।

।।दोहा।।

लीला अगम अपार है कृपा सिंधु भगवाना।
कहो कथा पुनीत अति सुनु अस्थिर धरे ध्याना।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे पढ़ीमहात्म्य वरनोनाम षष्टोध्यायः।।

कृपा-सागर भगवान सूरज देव की लीला अगम्य व सीमाहीन है। इसलिए उनकी पवित्र कथा बड़े ध्यान से स्थिर होकर सुनना चाहिए।

सूरज-महापुराण-माहात्म्य द्वारा **सूरज पुराण पठन-पाठन** की विधि-प्रयोग, **षष्ठ अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

सुनहू उमा प्रभु चरित अपारा। नाथ कथा वरनो विस्तारा।।
सिंगल द्वीप एक नगर की नामा। तहां वसहि परीछिन राजा।।
महा पुनीत धर्म उपकारी। तासु भवन एक कन्या कुमारी।।
सो नित करै सूरज के पूजा। सेवै सूरज और नहिं दूजा।।

-शिवजी कहते हैं-हे उमा! अब मैं उस प्रभु के चरित्र का विस्तृत वर्णन करता हूँ। सिंगल द्वीप के नगर में राजा परीक्षित रहते थे। राजा परीक्षित महान धार्मिक व परोपकारी थे। उनकी कुंवारी कन्या प्रतिदिन सूरज भगवान की पूजा करती थी। वह सूर्य के अलावा किसी भी अन्य देवों की पूजा नहीं करती थी।

प्रेम मन कथा मन लावै। निस दिन टेक सूरज पर लावै।।
इस कारण प्रसन्न गुसाई। सेवहि सूरज मन चितलाई।।
तासु भुवन प्रभु करहि कलेवा। तीन भुवन केउ पावन सेवा।।

वह अपने दिन का आरंभ ही सूरज देव की महान कथा प्रेम सहित सुनकर करती थी। इस प्रकार तन-मन-चित्त से कथा सेवन के परिणाम स्वरूप इंद्रियों के स्वामी सूरज-देव कन्या पर बड़े प्रसन्न थे। तीनों भुवन में जिनकी सेवा करने के अधिकारी कोई न हों, वही सूरज-भगवान कन्या के महल में प्रतिदिन प्रातःराश किया करते थे।

एक समै अचरज अस भयो। कन्या सुरसरि तीर गयो।।
मज्झजन करन लगो सोइ वाला। हृदै विराजित मोतियन की माला।।
तेहि अंतर रिष नारद आयो। कन्या देखि मुनि बहुत लोभायो।।

-एक दिन एक आश्चर्य-जनक घटना घटी। यह कन्या स्नान-मज्जन के लिए गले में मोतियों की माला से सुसज्जित होकर नदी के किनारे पहुँची। जिस क्षण वह अपने वस्त्र किनारे पर रख जल में उतरी उसी क्षण नारद ऋषि वहाँ आ गए व कन्या के नग्न-सौंदर्य को देख बड़े आकर्षित हो गए।

ठाढ़ भय मुनि सुरसरि तीरा। लीयो छिन कन्या कर चीरा।।
कन्या जल सो करत पुकारा। अंचर देहु अरु रिषि हमारा।।
कहा नारद सुनु कन्या बाता। हम सन करहू पुरुष करनाता।।

-नारद ऋषि ने कन्या के वस्त्र उठाकर अपने पास रख लिये व वहीं नदी के किनारे खड़े रहे। जब कन्या ने अपने वस्त्र को नारद के पास देखा तो वह पानी में से ही विनती करने लगी कि-ओ ऋषि! मेरे वस्त्र मुझे लौटा दीजिए। इस पर नारद ने कहा-ओ कन्या! मेरी बात सुनो! मेरे समान पुरुष से अपना संबंध स्थापितं कर लो।

सुनि मुनि तुमरी ग्यान भई भोराई। ऐसे वचन कहो जनिगैराई।।
हम अति कन्या लाख पचीसा। ऐसे वचनन कहो मुनीसा।।
अब विनती सुनु मम वानी। अवरदेहू तुमहू मम ग्यानी।।

-कन्या ने मुनि को धिक्कारते हुए कहा-हे मुनि! ऐसे जान पड़ता है कि तुम बौरा गए हो, वरना ऐसे वचन गैर-महिला से कदापि न कहते।

मेरे समान कन्याएँ लाखों हैं। इसलिए मैं आपसे विनती करती हूँ कि अमर्यादित वचन त्यागकर ज्ञानी के समान कार्य करो, मेरे वस्त्र मुझे लौटा दो।

।।दोहा।।
नगन नारी जल महि रहै मुनि सो कहै कर जोरी।
कृपा करहू पुलकित तन अंवर दीजो मोरी।।

-वह नग्न नारी जल के मध्य हाथ जोड़कर नारद मुनि से अपने वस्त्र लौटाने की विनती करने लगी।

जब कन्या बहू विनती लाई। तेहि छिन पुनि जब गए लजाई।।
अंबर दै मुनि भवन सिधाई। तब अवसर संकरन ही आई।।

-जब कन्या ने अनेक प्रकार से विनती की तो नारद मुनि लज्जित हो उठे। वे वस्त्र लौटाकर अपने घर चल दिए। इसी समय वहाँ शंकर भगवान आ पहुँचे।

स मुनि सूत स अजगत कीन्हा। सो आदित सो कही वो लीन्हा।
तहाँ मै करत रही असनाना। मुनि अंवर लै गए आग्याना।।
ताहिसमै आए सिव भोरा। संग उमा जैसे चंद चकोरा।।

-उस समय शिव व भवानी वहाँ पधारे। वे चंद्रमा व चकोर समान प्रेम मग्न थे। शिव भगवान ने कन्या से पूरी घटना सुनी। कन्या ने उनसे शिकायत की कि-'जब मैं नदी में स्नान कर रही थी तो मुनि नारद यहाँ आ पहुँचे व अज्ञानी के समान मेरे वस्त्र उठा लिए।'

सकल सहित प्रभु नायो माथा। पूछी सकल जब त्रिभुवन नाथा।।
कुसल कहा तव सिव सिव मुसुकाई। बैठे तब प्रभु कहा बुझाई।।
पूछा प्रभु ही तब सिव करजोरी। नाथ सुनहू एक विनती मोरी।।

-कन्या से पूरी घटना अवगत कर शिवजी गिरिजा सहित सूरज-देव के पास पहुँचे। उन्होंने सपरिवार सूरज-देव की वंदना कर त्रिभुवन के कुशल-मंगल पूछे। उसके बाद उन्होंने हाथ जोड़कर सूरज भगवान के सामने कन्या के साथ घटित पूरी बात बताई।

का अपराध कीन्ह मुनि भारी। सो मोसु प्रभु कहो विचारी।।
तब प्रभु कहा सुनु सिव भोरा। कन्या प्रेच्छित सो सेवक मोरा।।
सो अव सुनु मुनि कर ज्ञाता। दृष्ट विलोकी मुनि कर ध्याना।।

-शिवजी ने प्रभु सूरज देव से कहा कि 'नारद मुनि ने बड़ा भारी अपराध किया है। इसलिए इसका न्याय होना ही चाहिए।' सारी घटना से अवगत होकर प्रभु सूरज देव ने कहा 'ओ भोले शिव! सुनो! यह परीक्षित की कन्या मेरी सेविका है। नारद मुनि ने कन्या पर बुरी दृष्टि डालकर अधर्म किया है। इसलिए मैं उसे शाप देता हूँ कि उसका अंग वर्ण हीन अर्थात् कुष्ठ होग हो जाए।'

इहा कारण मुनि स्राप जो दियो। तेहि ते अंग वरन मुनि भयो।
इतना सुनि सिव मन मुसकाने।द्वि सब भुलानेउ सुनि आगे आने।।
सुनत वचन प्रभु कोधित भयो। कन्या सहित जब मुनि पहै गयो।।

-सूरज भगवान कन्या सहित क्रोधित होकर नारद मुनि के पास पहुँचे और कहने लगे-

।।दोहा।।

मुनि सो कहा वचन तब क्रोध किए मन लाए।।
अस कौतुक तुम कीइ सो मोहि कहौ बुझाई।।

-'हे नारद मुनि! मुझे समझाकर कहो कि तुमने इस कन्या के साथ लज्जाजनक कौतुक क्यों किया।'

।।चौपाई।।

जब मुनि कर जोरि वचन सुनाई। घर पद कमल सूरज गुन गाई।।
कहा मुनि प्रभु सुन वचन हमारी। मो सो चूक भई अधिकारी।।
इह अपराध छमहू प्रभु मोरी। विनवौ नाथ हुवौ कर जोरी।।
तव प्रभु कहा सुनहू मम वानी। इहां के लोक सकल गुण ग्यानी।।
ते अब मुनि मम लेहु सापा। जसे केहूत संभोत्रहू प्राणा।।

-सूरज देव को क्रोधित देख नारद लज्जित व भयभीत हो उठे। उन्होंने सूर्य देव के कमल रूपी चरण पर माथा नवाकर हाथ जोड़कर क्षमा याचना करते हुए कहा-'हे प्रभु! मुझसे बड़ी भूल हो गई है। मैं हाथ जोड़कर क्षमा याचना करता हूँ।'

-नारद के पश्चाताप् पूर्ण वचन सुनकर प्रभु ने कहा-'अब तुम मेरी बात ध्यान लगाकर सुनो! तुम बड़े ज्ञानी हो। इसलिए तुमने जो अपराध किया है उसका परिणाम भी तुम्हीं को भोगना होगा। अतः मेरे द्वारा दिया गया शाप भी ग्रहण करो।'

।।दोहा।।

तीन भुवन स्वामी रवि ज्योति कीन परगास।
हरषित कथा गुण गाइ तहाँ सूरज के बास।।

इति श्री सूरज महातम्ये महापुराणे राजा परीछित नारद कन्या श्राप दे वरनोनाम सप्तमोध्यायः।।

-ओ त्रिभुवन स्वामी! सूरज देव! मुझे ज्ञान रूपी ज्योति प्रदान करो। मैं आनंद सहित तुम्हारे पवित्र कथा का गान कर रहा हूँ। सूरज-महापुराण-महात्म्य में **राजा परीक्षित की कन्या व नारद श्राप की सप्तम अध्याय** की कथा समाप्त हुई।

-सूरज-पुराण के सप्तम अध्याय में राजा परीक्षित की कन्या व नारद शाप की रोचक कथा का वर्णन हुआ है। सिंहल द्वीप नगर में राजा परीक्षित का शासन था जो स्वयं धार्मिक व परोपकारी स्वभाव के थे। उनकी कन्या भी उन्हीं के समान धार्मिक स्वभाव की थी व नित्य सूर्य भगवान की आराधना कर जल ग्रहण करती थी। सूर्य भगवान का अनुग्रह कन्या पर सदैव बना हुआ था। एक बार जब यही कन्या तालाब में नहाने उतरी तो नारद जी प्रकट हुए व कन्या के रूप-सौंदर्य देख मोहित हो गए। नारद ने कन्या का वस्त्र उठाकर अपने पास रख लिया व कन्या से प्रेम का आग्रह करने लगे। जब कन्या ने वस्त्र वापस लौटाने की बार-बार विनती की तो नारद ने वस्त्र वापस लौटा दिए और वहाँ से चल दिए। कहते हैं, उसी समय शिव जी भवानी सहित वहाँ आए तब कन्या ने नारद की अभद्रता की शिकायत कर दी। शिव जी बड़े क्रोधित हुए व नारद की अभद्रता का प्रसंग सूर्य देव के सामने बखाना। सूर्य देव भी कुपित हो उठे व नारद को श्राप दिया कि वह कुष्ठ रोगी बन जाए। नारद जी ने विनती की व क्षमा याचना की। अष्टम अध्याय में यह वर्णित है कि नारद को इस शाप से मुक्ति कैसे मिली।

।।चौपाई।।

पंपा पुर एक नग्र का नाउ। हरधर विप्र राजा बैठाउ।
नगर बसे मानहू कैलासा। धर्म कथा तहां होय प्रगासा।।

-पंपापुर नामक नगर में हलधर नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह नगर कैलाश समान सुंदर व पवित्र था। वहाँ सदैव धार्मिक समारोह, कथाएँ हुआ करती थी।

पूजा सूरज करउ दिन राती। निस दिन टेक धरै बहू भांती।।
कोटि अगन चारी दिसि जहां। थी सूरज के आश्रम हां तहां।।
तड़ाग अखंडित सुहावा। चारो घाट सो वरन धावा।।

-उस नगर के वासी सूरज देव की विविध भाँति से रात दिन भजन-पूजन करते रहते थे। उस नगर के चारों दिशाएँ इतनी प्रकाशित थीं मानो करोड़ों अग्नि के मशाल जल रहे हों। नगर के मध्य श्री सूरज देव का आश्रम था। आश्रम के पास रत्नों से जड़ित एक तालाब था जिसके घाट चारों ओर से सोने का बना हुआ था।

तहां थंभ एक बड़ा विस्तारा। सौ जजन सो रहिउ पताला।।
तहां थंभ आदित कर वासा। प्रातहि थंभ सो लागि अकासा
एहि विधि आदित आवहि जाही। सुनहू कथा पुनीत मन माही।।
मै तु ही अर्थ कहौ समुझाई। आदित कथा पडे मन लाई।।

-वहाँ एक विशाल खंभा बना हुआ था जो पाताल से सौ योजन ऊँचा विस्तृत था। उस खंभे पर सूर्य का निवास था जो प्रातःकाल आकाश से जाकर टकराता था। इस प्रकार इस खंभे से सूर्य आते-जाते रहते थे। इसी पवित्र कथा को मन लगाकर सुनो।

मध्यकाल में सूर्य पूजा का गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा में व्यापक प्रचलन था। संभवतः इस कारण गुजरात में मुढ़ेरा-मंदिर मध्यप्रदेश में खजुराहो चित्रगुप्त मंदिर तथा उड़ीसा में कोणर्क मंदिर का निर्माण हुआ। विष्णु पद के मंदिर से करीब 175 गज उत्तर, 95 गज लंबी और 60 गज चौड़ी दीवार से घिरा हुआ सूर्यकुंड नामक एक सरोवर है। उसके चारों ओर नीचे तक सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। कुंड का उत्तरी भाग उदीची, मध्य का कनखल और दक्षिण का दक्षिण-मानस-तीर्थ कहा जाता है। तीनों स्थानों पर तीन वेदियों में अलग-अलग पिंडदान होते हैं। सूर्यकुंड के पश्चिम एक मंदिर में सूर्यनारायण की चतुर्भुज मूर्ति खड़ी है, जिसको दक्षिणार्क कहते हैं। प्रस्तुत चौपाई में जिस सूर्य मंदिर का वर्णन हुआ है वह भी इसी सूर्यकुंड से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। इससे भिन्न भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में जो सूर्य-मंदिर स्थापित है-उसका वर्णन भी उल्लेखनीय है। इस संदर्भ में बिहारीलाल जी का वर्णन है-

भारत में पहले सूर्य की उपासना मंत्रों द्वारा होती थी; किंतु जब मूर्ति-पूजा का चलन आरंभ हुआ, तब सूर्य की प्रतिमा भी यत्र-तत्र स्थापित हुई। उत्कल-प्रदेश में सूर्योपासना का विशेष रूप से प्रचार था। कोणार्क में एक विश्व-विख्यात सूर्य मंदिर है, जिसको 'कोणादित्य' कहते हैं। ब्रह्मपुराण के अट्ठाईसवें अध्याय में इस तीर्थ तथा एतत्संबंधी सूर्य-पूजा का वर्णन है। **कोणार्क** का मंदिर भग्नावस्था में होने पर भी दर्शनीय है। अनेक विदेशी उसकी कारीगरी देखने के उद्देश्य से जाते रहते हैं। इसी कारण भारत-सरकार के पर्यटक-विभाग ने यहाँ होटल बनवाया है, जिसमें वास-स्थान की भी सुविधा है। काश्मीर में, **मार्तण्ड** मंदिर के सूर्य की मूर्ति का भग्नावशेष मिला है। मार्तण्ड का मंदिर अमरनाथ के मार्ग पर है। चीन-पर्यटकों के वर्णन के अनुसार **मुलतान**-(पाकिस्तान)-में बहुत विशाल सूर्य मंदिर था, जिसका आज नामोनिशान भी नहीं है।

विधर्मियों द्वारा मंदिरों के विध्वंस कर देने पर भी आज अनेक सूर्य मंदिर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हैं। उनमें **अल्मोड़ा** (उत्तर प्रदेश) का सूर्य-मंदिर अपनी विशेषता रखता है। इस सूर्य मंदिर में स्थापित सूर्य की मूर्ति अद्‌भुत है। यहाँ के सूर्य रथवासी नहीं हैं; किंतु पादाच्छन्न हैं। पैरों को देखने से ज्ञात होता है कि वे बूट-जूता पहने हुए हैं। संभवतः यह भारतीय मूर्ति कला की विशेषता नहीं है। विशेषतः अल्मोड़ा के मंदिर के अतिरिक्त **देवसाल का** विशाल मंदिर, पुराण प्रसिद्ध धर्मारण्य क्षेत्र में सिद्धपुर मढेरा तीर्थ है; जहाँ का सूर्य-मंदिर विशाल है। **अयोध्या, सहनिया (टिकमगढ़), जयपुर के गलताजी,** जोधपुर से 39 मील दूर **ओसिया** का सूर्यदेव-मंदिर और **देव** (बिहार) का मंदिर दर्शनीय है। **कटारमल** (अल्मोड़ा पहाड़ की चोटी पर) के सूर्य-मंदिर में भगवान सूर्य की मूर्ति कमल के आसन पर है।

राजस्थान शिल्पकला और स्थापत्य-कला के लिए प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में **रणकपुर** का सूर्य-मंदिर विख्यात है जो अपनी सादी कला की सुरुचिपूर्णता के लिए विख्यात है। **खजुराहो** (मध्यप्रदेश) में 85 मंदिर हैं, जो कला की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं। इनमें सूर्य-मंदिर अपने ढंग का अनूठा है। वह भी दर्शनीय है। खंभात खाड़ी के पास **नगामा-नगरका** में एक सूर्य भगवान का दर्शनीय मंदिर है। इस स्थान पर ब्रह्मा के तीन प्रसिद्ध मंदिरों में एक स्थापित है। दक्षिण भारत के **कुम्भकोणम्** में शिव-मंदिर के पास सूर्य-मंदिर है।

सूर्यपूजा बहुत प्राचीन है। इसका एक प्रमाण मिश्र में मिला एक बहुत प्राचीन मंदिर है। फराउन बादशाह रसेमस द्वितीय ने 3200 वर्ष पूर्व स्थापित मंदिर को एक पहाड़ी में कटवाकर बनवाया था, मंदिर 110 फुट ऊँचा है। मंदिर के पास रसेमस द्वितीय की 65 फुट ऊँची मूर्ति है। मंदिर में सूर्यदेवता की मूर्ति है।

भारत के अतिरिक्त जापान में आज भी उगते सूर्य का मंदिर है। उमिया शंकर जी सूर्य मंदिरों की जानकारी देते हुए बताते हैं-

प्राचीन समय में अग्नि, वरुण, इंद्र और सूर्य-जैसे देवताओं की प्रधानता थी, जिनके स्तोत्र वेदों में भरे पड़े हैं। विष्णु आदि देवों का स्थान अपेक्षाकृत गौण था-यद्यपि विष्णु और सूर्य के स्वरूप एक ही माने गये हैं। बहुत समय के बाद आर्यों की धर्मरुचि में कुछ परिवर्तन होने से सूर्य का अन्य देवताओं के साथ विष्णु में आविर्भाव की मान्यता का प्रचलन हुआ। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिगुणात्मक-उद्भव, पालक और संहारक के स्वरूप की पूजा व्यापक होने से सूर्य आदि देवों की पूजा गौण बन गयी। फिर भी त्रिकाल-संध्या सूर्योपासना की अंगस्वरूप बनी रही और आज भी है।

गुप्तकाल में और उसके बाद बारहवीं शताब्दी तक भारत के विभिन्न भागों में विशेषतः पश्चिम-भारत में सूर्य की पूजा प्रचलित थी; किंतु विष्णु और शिव में सारे वैदिक देवों का अंतर्भाव होने के कारण अब केवल संध्योपासना में रह गयी। ईसवी सन की चौथी या पाँचवीं शताब्दी में भारत में हूण, शक आदि विदेशी जातियाँ प्रविष्ट हुईं। उस समय की विदेशी प्रजाएँ भारत की प्रजा के साथ मिलजुल गयीं। उन्होंने भारत के चार वर्णों में से अपने अनुकूल वर्ण, शैव और वैष्णव तथा बौद्ध में से कोई एक मनचाहा धर्म स्वीकार कर लिया। दोनों जातियाँ भारत जनता में घुल-मिल गयीं। अनेक रीति-रिवाजों का विनिमय हुआ। विदेशियों के कुछ तत्वों को स्थानीय जनता ने ग्रहण किया। चौथी और पाँचवीं शताब्दी में भारत में सूर्यपूजा बहुत प्रचलित हुई। वैदिक क़ाल के पूर्वजों में सूर्यपूजा प्रचलित थी, अतः विदेशियों की सूर्य पूजा को ग्रहण करने में दूसरे धर्म का अनुभव नहीं हुआ; फिर भी सूर्यपूजा का विदेशीपन छिपा नहीं रह सका। सातवीं शताब्दी में ईरान से भागकर आयी हुई पारसी जाति अग्नि, सूर्य और वरुण को माननेवाली है। वह दूध में शक्कर की भाँति इस देश में मिल गयी।

प्राचीन वैदिक काल में छः ऋतुओं में छः आदित्यदेव माने जाते थे, जो सूर्य कहे जाते हैं। कहीं-कहीं सात देवों के भी नाम मिलते हैं। पर बाद में बारह महीनों के बारह आदित्य (सूर्य) हुए। जिनके नाम क्रमशः

इस प्रकार हैं-(1) सुधाता, (2) मित्र, (3) अर्यमा, (4) रुद्र, (5) वरुण, (6) सूर्य, (7) भर्ग, (या भग) (8) विवस्वान् (विश्वरूप), (9) पूषा, (10) सविता, (11) त्वष्टा और (12) विष्णु। सूर्यदेव के विषय में अनेक वैदिक और पौराणिक कथाएँ हैं।

शिल्पग्रंथों में सूर्य के नाम और स्वरूप दिए गए हैं। नाम के प्रकरण सूत्र में संतान, अपराजितपृच्छा और जयप्रपिति का उल्लेख है। '**देवतामूर्तिप्रकाशनम्**' आदि में सूर्य के बारह स्वरूप बताये गये हैं। उनमें से दस स्वरूपों को हाथवाला बताया गया है। नवाँ पूषा और दसवाँ विष्णुस्वरूप है। ये दो-दो हाथवाले बताए गए हैं।

प्रत्येक स्वरूप के ऊपरवाले दो हाथों में कमल और नीचे के हाथों में अलग-अलग दो-दो आयुध कहे गए हैं। किसी में सोमरसपात्र, शूल, चक्र, गदा, माला, वज्रपाश, कमण्डलु, सुदर्शनचक्र, स्रुवा (होम का पात्र) है। इस तरह अलग-अलग दो-दो आयुध, नीचे के दो-दो हाथों में देने को कहा गया है। इन आयुधों से कहा जा सकता है कि सूर्य का विष्णु में आविर्भाव हुआ।

विश्वकर्मा प्रणीत '**दीपार्वण**' नामक शिल्पग्रंथ में बारह के स्थान में तेरह सूर्य के नाम और स्वरूप दिए गए हैं। वे सभी दो-दो हाथों के कहे गए हैं। उनके दो-दो हाथों के आयुधों में शंख, कमल, वज्रदंड, पद्मदंड, शतदल (हरी सब्जियों), फलदंड और चक्र देने को कहा गया है। उनके तेरह नाम इस प्रकार हैं-

(1) आदित्यदेव, (2) रवि, (3) गौतम, (4) भानुमान्, (5) शातित, (6) दिवाकर, (7) धूम्रकेतु, (8) सम्भव, (9) भास्कर, (10) सूर्यदेव, (11) सन्तुष्ट, (12) सुवर्णकिंद्र और (13) मार्तण्ड। जैसे ये तेरह नाम हैं, वैसे ही उनके स्वरूप भी कहे गये हैं।

इस प्रकार की मूर्तियाँ सूर्यमंदिरों में पायी जाती हैं। ये मूर्तियाँ बैठी हुई या खड़ी-दोनों तरह की देखने में आती हैं। सूर्य का सात मुँहवाले एक घोड़े को सात घोड़ों के रथ को वाहन कहा गया है।

छठी शताब्दी के विद्वान वराहमिहिर ने **बृहत्संहिता** नामक अतिविद्वत्तापूर्ण ग्रंथ की रचना की है। उस (60-19) में वे लिखते हैं- मग ब्राह्मण सूर्य के पुजारी हैं। सूर्यमूर्ति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं-सूर्य की मूर्ति में नाक, कमल, जाँघ, पिंडली, गाल और छाती आदि ऊँचे होने चाहिए। उसका पहनावा उत्तर-प्रदेश के लोगों के-जैसा होना चाहिए। हाथों में कमल, छाती पर माला, कानों में कुंडल, कमर खुली होनी चाहिए। मुख की आकृति सफेद कमल के गर्भ-जैसी सुंदर और हँसता हुआ शांत चेहरा, मस्तक पर रत्नजटित मुकुट होना चाहिए। इस प्रकार की मूर्ति निर्माता को सुख देती है।

इसी से मिलती जुलती सूर्यमूर्ति का वर्णन शुक्र-नीतिशास्त्र में दिया गया है। प्राचीन काल की मिली हुई सूर्यमूर्तियाँ पैरों में होलबूट पहनी हुई-जैसी दिखायी देती हैं। इस कारण उनके पैर या पैर की अंगुलियाँ दिखायी देती हैं। पैरों की अंगुलियाँ दिखाती हुई कुछ मूर्तियाँ प्रभास-वेरावल में मेरे देखने में आयी हैं; लेकिन वे पिछले समय की हो सकती हैं। इस तरह के जूते पहनी हुई मूर्तियाँ उनका विदेशीपन दिखा देती हैं। यहाँ अन्य किसी देव के पैरों में जूते नहीं रहते।

सूर्यप्रसाद में प्रमुख स्थान पर सूर्य की मूर्ति परिकरवाली स्थापित की जाती है। इसी तरह अन्य देवों के लिए भी कहा गया है। मुख्य देव के पर्याय-स्वरूपों को मूल मूर्ति के चारों ओर खुदे फ्रेम में होने पर परिकर कहा जाता है। विष्णु-मूर्ति के चारों ओर दशावतारों की छोटी-छोटी खुदी हुई प्राचीन मूर्तियाँ देखने में आयी हैं। उसी ओर सूर्य-मूर्ति के चारों ओर नवग्रहों के स्वरूप या सूर्य के अन्य स्वरूप गढ़े जाते हैं। कुछ मूर्ति के परिकर में नीचे की ओर खुद या बैठे हुए मूर्ति गढ़ानेवाले यजमान और यजमानपत्नी की मूर्तियाँ भी बनायी हुई रहती हैं। वर्तमान काल में प्रधान पूजनीय मूर्तियों से परिकर की प्रथा हटा दी गयी है। उत्तर-भारत में अलग-अलग विभागों में चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक सूर्य-मंदिर बनते रहे-यह बात लिखित प्रमाणों से या अवशेषों के आधार से कही जा सकती है।

(1) ई.सन् 473 में दशपुर (मालवा का दशोर) में रेशम बुननेवाले संघ ने एक सूर्य-मंदिर बनवाया था। दशोर मालवा में एक शिलालेख है, जिसमें उक्त मंदिर का जीर्णोद्धार करनेवाला शिल्पकार गुजरात से दशपुर गया था-ऐसा लिखित है।

(2) राजतरंगिणी में उल्लेख है कि कश्मीर के ललितादित्य मुक्तापिड ने ई.सन् की आठवीं शताब्दी में प्रख्यात मार्तण्ड (सूर्य) का मंदिर बनवाया था। उसका भग्नावशेष अभी तक स्पष्ट है।

(3) ह्वेन सांग ने अपने प्रवास-वर्णन में सातवीं शताब्दी में, मुलतान में सोने की मूर्तिवाला प्रख्यात सूर्य-मंदिर देखने का उल्लेख किया। ग्यारहवीं शताब्दी में चमड़ा ओढ़े हुए लकड़ी की मूर्तिवाला मंदिर गीझनी के विद्वान आल्बेरूनी ने देखा था। आल्बेरूनी ने अपने 'भारत भ्रमण' नामक प्रवास-वर्णन में लिखा है कि-'उस मंदिर के पुजारी 'मग' ब्राह्मण हैं'। मुलतान के सूर्य मंदिर की सोने की मूर्ति विधर्मियों से भयभीत होकर काष्ठ में परिवर्तित की गयी होगी।

(4) ह्वेन सांग ने कन्नौज में एक सूर्य-मंदिर देखने की चर्चा की है।

(5-6-7) एलापूर (इलोरा) भाजा और खंडगिरि की गुफाओं में भव्य सूर्य-मूर्तियाँ गढ़ी गयी हैं। वहाँ चौथी और पाँचवीं शताब्दी में सूर्यपूजा का अधिक प्रचार था।

(8) प्राचीन काल में गुजरात पर शासन करनेवाले पूर्व राजस्थान के वर्तमान भिनमाल स्थान में एक अति प्राचीन कालीन सूर्य-मंदिर का अवशेष अस्तित्व में है।

(9) कच्छ में कंथकोट में नवीं शती का एक पुराना सूर्यमंदिर जीर्ण हालत में है।

(10) सौराष्ट्र में थान मित्रेश्वर के पास ग्यारहवीं शताब्दी का सूर्य-मंदिर है। झालावाड़ के चौटीला में सूर्योपासक काठी जाति के लोगों ने हाल में ही एक नया सूर्य-मंदिर बनवाया है।

(11) साबरमती और हाथपती के संगम के संनिकट बीजापुर के पास कोट्यर्क का बहुत प्राचीन मंदिर है। वहाँ अभी तो ई. सन् 150 के

क्षेत्रीय राजा रुद्रदाम के सिक्के मिलते हैं। यहाँ कोटि या करोड़ सूर्य-मंदिर हैं। नाम भी विशेष हैं। इस तरह यह तीर्थ पहचाना जाता है। इसे खडायता नामक वैश्यों का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। उनके इष्टदेव कोट्यर्क या कोटारक जी हैं। वहाँ पुराना सूर्यकुंड भी है। उस मंदिर की स्थिति संभवतः नवीं शती के पूर्व की हो सकती है; लेकिन जीर्णोद्धार से उसका असली स्वरूप बदल गया है। फिर भी कहीं-कहीं मूलस्वरूप दिखायी देता है। वह उसकी प्राचीनता की साक्षी देता है।

(12) उसी ओर ग्यारहवीं शताब्दी में बना हुआ उत्तर गुजरात का जगविख्यात मोढेरा का सूर्य-मंदिर मोढ बनिये और मोढ वैष्णवों के इष्टदेव का स्थान माना जाता है। यह मंदिर साधारण प्रकार का भ्रमयुक्त विशाल मंदिर है। गर्भगृह के चारों ओर अंदर प्रदक्षिणा-मार्ग है। उसके आगे गूढ़मंडप है। उसके आगे एक खुला नृत्यमंडप है। उसके आगे प्रतोली के दो स्तंभ बगैर तोरण के खड़े हैं। तोरण नीचे गिरा हुआ है। आगे सूर्यकुंड शास्त्रोक्त विधियुक्त है। उसमें अनेक देव-देवियों की मूर्तियाँ आलों में रखी हुई हैं। जहाँ सूर्य-मंदिर होता है वहाँ सूर्यकुंड होता ही है।

(13) जैसा पश्चिम में मोढेरा का सूर्य-मंदिर है वैसा ही पूर्व में उड़ीसा में कोणार्क का विख्यात भव्य मंदिर बारहवीं शती में वहाँ के राजा ने बनवाया था। इस मंदिर के बाँधनेवाले शिल्पी की कथा भी अद्‌भुत है। कहते हैं कि मंदिर बाँधकर वह पास के समुद्र के पानी में चलता हुआ आगे निकल गया। इसलिए माना जाता है कि वह दैवी शिल्पी था। पुराणों में अर्कक्षेत्र या पद्मक्षेत्र को कोणार्क-तीर्थ कहा गया है। उसके दक्षिण में पूर्व की ओर दो-एक मील पर ही बंगाल की खाड़ी है। मंदिर के उत्तर में आधे मील पर चंद्रभागा नदी बहती है।

इस मंदिर की भव्यता अजीब है। खुले गर्भगृह की दीवारें खड़ी हैं। उसका शिखर तोड़ दिया गया है। मंडप में ऊपर का भाग

तोड़ दिया गया है और उसके द्वार बंद करके वह रेतों से भर दिया गया है। गर्भगृह करीब बीस फुट का समचौरस है। मूर्ति के स्थान पर सप्ताश्वयुक्त सिंहासन है। मंदिर की अनेक सुंदर मूर्तियाँ श्यामपाषाण की परिकरवाली छः फुट से भी अधिक ऊँची हैं। ये किसी मंदिर में प्रधान पद पर स्थापित करने योग्य हैं। मंदिर को रथ का स्वरूप दिया गया है। उसके पहियों का व्यास पौने दस फुट का है। मंदिर का पीठ साढ़े सोलह फुट का है।

भारत के पूर्व में कोणार्क और पश्चिम में मोढ़ेरा के मंदिर सुप्रसिद्ध माने जाते हैं। उसी तरह उत्तर में कश्मीर का मार्तण्ड-सूर्य-मंदिर उस समय जगविख्यात रहा होगा। दुर्भाग्य से विधर्मियों के हाथों वह प्रायः नष्ट हो गया है। वहाँ के स्थापत्य-विधर्मियों ने अभ्यास की दृष्टि से उसे देखनेलायक नहीं रहने दिया है। कश्मीर प्रदेश के मंदिरों की रचना उत्तर भारत के अन्य मंदिरों से अलग है।

(14) राजस्थान, जोधपुर और मेवाड़ की सरहद पर जैनों के राणकपूर के पास जैन-मंदिरों का समूह है। वहाँ उसके दक्षिण में अष्टभद्रयुक्त सुंदर कालात्मक सूर्यमंदिर अखंडित है। बहुत समय पूर्व से देखभाल के अभाव में और अपूज्य रहने से यह मंदिर जर्जरित हो गया है। शिखर अष्टभद्री और मंडल भी अखंडित है। उसमें सूर्य की अनेक मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। कक्षासन के स्थान पर खड़े हुए घोड़े खुदे हुए हैं। अखंडित मंदिर के जीर्णोद्धार की आवश्यकता है। अष्टांश-प्रासाद का विधान शिल्प में है; लेकिन व्यवहार में वह क्वचित् ही देखने को मिलता है।

(15) प्रभास क्षेत्र (सोमनाथ) में छोटे-बड़े बहुत सूर्यमंदिर रहे होंगे, जैसा उनके भग्नावशेषों और द्वार पर मिले बिखरे हुए अंतरंगों-अवशेषों से जाना जा सकता है। वर्तमान प्रभास में दो बड़े सूर्यमंदिर जीर्ण हालत में खड़े हैं। त्रिवेणी पर सूर्यमंदिर के शिखर का जीर्णोद्धार किसी अज्ञात कारीगर के हाथ से होने के

कारण उसके ऊपर का भाग विकृत हो गया है। कुशल शिल्पियों के द्वारा जीर्णोद्धार कराने से ही असली आकृति-जैसा देखा है। त्रिवेणी-संगम पर का सूर्यमंदिर पूर्वाभिमुख है। उसका गर्भगृह बिना मूर्ति के खाली है। मंदिर भ्रमयुक्त सांधार प्रकार के प्रासाद का है। उसकी पीठ की ग्रामपट्टी के स्थान पर अश्व पर बनाया गया है। उसकी जाँघ में देवरूप अल्पसंख्या में हैं; लेकिन मंदिर बहुत बड़ा है।

(16) प्रभास के पूर्व ईशान में शीतला नाम से पहचाने जानेवाले स्थान में अरण्य-जैसे भाग में हिरण्य नदी के किनारे रम्य स्थान पर भ्रमयुक्त सांधार प्रासाद की शैली पर बना हुआ सूर्यमंदिर है। उसका शिखर और मंडप के ऊपर का भाग नष्टप्राय हो गया है। यह मंदिर सुंदर कलात्मक है। लगता है कि यह मंदिर दक्षिणाभिमुख हो। गर्भगृह में मूर्ति नहीं है। विशेषतः सूर्य-मंदिर पूर्वाभिमुख होते हैं। उसकी पीठिका में (प्लीन्थ में) ऊपर के भाग में ग्रासपट्टी की जगह अश्व बने हुए हैं।

प्रभास क्षेत्र में पुराणों के प्रमाणों से कहा जा सकता है कि वहाँ सूर्य के बारह बड़े मंदिर थे। उनमें से सिर्फ दो बड़े प्रासाद खंडित दशा में खड़े हैं। ये दोनों मंदिर बारहवीं शताब्दी के आगे के-जैसे नहीं लगते।

देवताओं के स्थपति विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा का पाणिग्रहण सूर्य के साथ हुआ था; किंतु वह सूर्य का तेज न सह सकने से प्रभास में अपने मायके चली आयी। सूर्य संज्ञा को खोजते हुए प्रभास आये; पर इसके पूर्व संज्ञा घोड़ी के रूप में विचरने लगी। सूर्य को यह मालूम होने पर वह अश्व रूप लेकर उसके साथ रहे। घोड़ी के स्वरूप की संज्ञा से अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ। सूर्य अपना तेज संज्ञा से सहा न जाने के कारण अपनी सोलह कलाओं में से बारह कलाएँ प्रभासक्षेत्र में स्थापित कीं। उसके ही ये बारह सूर्यमंदिर प्रतिनिधि स्वरूप हैं।

सूर्य की पत्नी संज्ञा का उपनाम रत्नादेवी भी है। इसे पुत्र देनेवाली देवी मानकर लोग उसकी पूजा करते हैं। स्त्री के (प्रथम गर्भधारणा) सीमंत के समय रत्नादेवी प्राकृत स्वरूप गंदल माता के नाम से उसका छोटा मंडल बनाकर उसमें छिले हुए नारियल में उसकी मुखाकृति की कल्पना करके उसकी पूजा करते हैं। हिंदू-कुटुंबों में तो सीमंत के समय आठ दिन तक घर में प्रतिदिन रात को उत्सव मनाया जाता है। स्त्रियाँ रावल माता के गीत और गरबा गाती हैं। यहाँ सूर्य एवं संज्ञा घोड़ा-घोड़ी-रूप के प्रतीक में ही स्थित हैं। प्रतिदिन दर्शनार्थियों को बतासे, खारीक या पाँच-पाँच सुपारियाँ बाँटी जाती हैं। सात दिनों में उत्सव पूरा होने के बाद आखिरी दिन गंदल माता का और सूर्यदेव का छोटा मंडप (प्रतिमायुक्त) सीमंतिनी स्त्री और उसका तरुण पति सिर पर रखकर गाते-बजाते गाँव में घुमाते हैं। पहले तरुण पति केवल सगुन के लिए सिर पर मंडप लेकर एक चौक तक चलता है, बाद में स्त्रियाँ वह मंडल आनंद से अपने सिर पर लेकर गंदल माता के गीत उमंग से गाती हुई घूमती हैं। जहाँ चौक आता है, वहाँ उत्साह में आकर मंडल के साथ गरबा गाती हुई घूमती हैं। वह दृश्य अनोखा लगता है। लोगों की उत्कृष्ट धर्मभावना दिखती है। यह प्रथा अन्य स्थानों पर भी मैंने देखी है। सोमपुराओं में विशिष्ट खानदानों में सीमंत के समय एक या तीन दिन राँदल माता की स्थापना की जाती है। गोद में खेलनेवाला **'दे दे रन्ना दे'** जैसा गाया जाता है।

संज्ञा-रत्नादेवी की सुंदर मूर्तियाँ सूर्य के-जैसी खड़ी ऊपर के दो हाथों में कमलदंडवाली प्रभास पाटण में स्थापित हैं, वे दर्शन करने योग्य हैं।

उत्तर भारत में जगह-जगह पर सूर्य-मंदिर अचर्चित स्थानों पर भी होंगे, जिनका प्रामाणिकता अपने पास नहीं है। किंतु ऐतिहासिक प्रमाण और वर्तमान में खड़े हुए जीर्ण मंदिर ही प्रमाण हैं।

दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में संभवतः सूर्यपूजा उतनी प्रचलित नहीं होगी। उसके मुख्य मंदिर होने की कोई ज़ानकारी उपलब्ध नहीं है।

वहाँ लिंगायत, सुब्रह्मण्य विष्णु, शैव, देवी आदि अन्य देव-देवियों के भव्य मंदिर पांड्य, चोल-जैसे बड़े राज्यों ने अपने अक्षय राज्यभंडार खाली करके बनवाये हैं। वे मंदिर एक छोटे शहर-जितने विशाल विस्तार में फैले हुए और भव्य होते हैं। द्रविड़ प्रदेशों में मुस्लिमों का पद-संचार अल्प हुआ है, इसलिए वहाँ के भव्य मंदिर अभी भी अखंडित रह सके हैं।

काशीनाथ कुलकर्णी कर्नाटक के सूर्य मंदिर के बारे में कहते हैं-

मलतगा (बेलगाँव, कर्नाटक) में प्रायः 400 वर्ष पुरानी सूर्यनारायण की भव्य मूर्ति है जो 2 फुट ऊँची है। मंदिर में प्रतिदिन सूर्य-सूक्त का नियमित पाठ होता है। हनुज्जयंती के दिन सूर्योदय के समय हनुमान जी की पालकी सूर्यनारायण के मंदिर के सामने आती है। सूर्य-मूर्ति के दाहिने बाजू में 'जय' और बाए में 'विजय' की प्रतिमाएँ हैं। मूर्ति के नीचे (पीठ पर) मध्य में सूर्यदेवजी का मुख है और दोनों बाजुओं को मिलाकर सात अश्वों के मुख हैं।

कृष्णदत्त बाजपेयी-पुरातत्व में सूर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं- सूर्य के प्रभावशाली स्वरूप तथा उनके प्रति प्रतिष्ठा का निदर्शन भारतीय पुरातत्व में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। प्राचीन अभिलेखों, मुद्राओं, मंदिरों, मूर्तियों आदि के देखने से यह बात प्रमाणित होती है। भारतीय सूर्योपासना इतनी प्रबल हुई कि उसका प्रचार इस देश के बाहर अफगानिस्तान, नेपाल, बर्मा, श्याम, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा आदि देशों में हुआ। इन देशों में सुरक्षित मूर्ति-अवशेष आज भी इसका उद्घोष करते हैं। सूर्य के नाम पर सूर्यवर्मा आदि अनेक नाम विदेशों में प्रचलित हुए।

ईरान के साथ भारत का संबंध बहुत पुराना है। इन दोनों देशों ने सूर्यपूजा को भी व्यापक रूप में अपनाया। ईरान के सूर्यपूजक पुजारियों का आगमन ईसवी पूर्व प्रथम शती से विशेष रूप में हुआ। हमारे यहाँ उन्हें अच्छा सम्मान मिला। उनके प्रयास से उत्तर-पश्चिम भारत के अनेक स्थानों पर सूर्यमंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। ईरान में

सूर्य की प्रतिमाएँ प्रभावशाली शासक के रूप में बनायी जाती थीं। उनमें शिरस्त्राण, कवच, अधोवस्त्र (सुथना) के साथ उपानह् (जूते) भी पहनाये जाते थे। ईरान तथा मध्य एशिया में अधिक सर्दी के कारण यह वेश-भूषा आवश्यक थी। पेशावर, तक्षशिला, मथुरा आदि में सूर्य की ऐसी अनेक पाषाण-मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें सूर्यदेव को खड़े या बैठे हुए तथा उक्त वेश-भूषा में दिखाया गया है। उत्तरी क्षेत्रों (ईरान तथा मध्य एशिया) में यह वेश बहुत प्रचलित था। इसी से भारत में उसे 'उदीच्यवेश' की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार की प्रतिमाओं में सूर्य को दो या चार घोड़ों की संख्या सात हो गयी, जो सूर्य-किरणों के सात मुख्य रंगों के द्योतक हैं।

गंधार क्षेत्र तथा मथुरा से प्राप्त सूर्य की उदीच्य-वेशवाली प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें सूर्य के एक हाथ में प्रायः कटार तथा दूसरे हाथ में सनाल कमल मिलता है। इन मूर्तियों का निर्माण-काल ईसवी प्रथम से चौथी शती तक है।

गुप्त काल (ई. चौथी से छठी शती तक) में सूर्य का महत्व बहुत बढ़ा। वे प्रमुख पंचदेवों में से एक हुए। अन्य चार देवता और थे-विष्णु, शिव, देवी तथा गणेश। 'पंचदेवोपासना' ने भारतीय धर्म और कला को नयी दिशाएँ प्रदान कीं। अब इन पाँचों मंदिरों और उनकी प्रतिमाओं का देश के अनेक भागों में बड़े रूप में निर्माण होने लगा।

उत्तर गुप्त-युग से उदीच्यवेश के अतिरिक्त सूर्य की ऐसी बहुसंख्यक प्रतिमाएँ बनने लगीं जो अन्य भारतीय देवों के ढंग की हैं। उनमें सूर्य को भारतीय वेश-भूषा में दिखाया जाता था। उन्हें धोती तथा उत्तरीय पहने और दोनों हाथों में सनाल कमल धारण किये हुए प्रदर्शित किया जाने लगा। उनके रथ में अब प्रायः सप्ताश्व मिलते हैं तथा उनका सारथि अरुण भी दिखाया जाने लगा। धनुष-बाण धारण की हुई, अंधकार पर आक्रमण करती हुई, सूर्य के एक ओर उषा और दूसरी ओर प्रत्यूषा दिखाई जाती हैं। कुछ प्रतिमाओं पर सूर्य की पत्नी का और उने मुख्य दो गुणों-दण्ड (या दंडी) तथा पिंगल का भी प्रदर्शन मिलता है। सूर्य की

मध्यकालीन अनेक प्रतिमाओं में सूर्य को चक्रवर्ती सम्राट की तरह तेजस्वी-रूप में प्रभामंडल सहित दिखाया गया है। वे प्रतिमाएँ अनेक अलंकरणों, परिकरों आदि से सम्पन्न हैं।

उत्तर तथा दक्षिण भारत के विभिन्न प्राचीन स्थलों में सूर्य के मंदिर थे। प्रारंभिक मंदिरों में मूलस्थान (मुलतान), मथुरा, इंद्रपुर (इंदौर), दशपुर (मंदसौर, मध्यप्रदेश) के सूर्य-प्रासाद उल्लेखनीय हैं। मध्यकालीन मंदिरों में मढ़खेरा (जि.टीकमगढ़, म.प्र.), औसिया (जोधपुर) तथा कोणार्क (उड़ीसा) के मंदिर विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें कोणार्क-मंदिर सबसे विशाल है। सूर्य-मंदिरों में उनकी पूज्य प्रतिमा गर्भगृह में प्रतिष्ठापित की जाती थी और उसे विष्णु, शिव आदि के मंदिरों-जैसा अलंकृत किया जाता था, मंदिरों में दीप-ज्वलन, पूजा-अर्चा की सम्यक् व्यवस्था होती थी।

मध्ययुग से पहले सूर्य की मूर्तियाँ प्रायः स्वतंत्र रूप में ही मिली हैं। बाद में स्वतंत्र प्रतिमाओं के साथ उन्हें नवग्रह वाले शिलापट्टों पर भी अंकित किया गया। नवग्रहों में प्रथम सूर्य हैं, अतः उनका अंकन खड़े या बैठे रूप में पहले मिलता है, बाद में अन्य ग्रहों का पूर्ण आकार के अतिरिक्त भारतीय कला में उनके प्रतीक रूप में भी मिलता है। सूर्य को विष्णु तथा शिव के साथ प्रदर्शित करने की भावना भी विकसित हुई। विष्णु, शिव तथा सूर्य की एक साथ संश्लिष्ट प्रतिमाएँ बनायी जाने लगीं। इनका संज्ञा 'हरिहर-हिरण्यगर्भ' हुई। ऐसी प्रतिमाओं में तीनों देवों के लक्षणों को प्रदर्शित किया गया। कुछ ऐसी 'सर्वतोभद्र' प्रतिमाएँ भी बनायी गयीं, जिनमें विष्णु, शिव, सूर्य तथा देवी को शिलापट्टों पर एक-एक ओर अंकित किया गया। ऐसे चौकोर पट्टों में प्रत्येक ओर एक देवता के दर्शन होते हैं। जैन-धर्म में ऐसे पट्ट बड़ी संख्या में बनाये गये हैं। उन पर प्रायः उनके चार मुख्य तीर्थंकरों-आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर-को एक-एक ओर अंकित किया गया है।

मध्ययुग में सूर्य-प्रतिमा-निर्माण तथा उनकी पूजा पर तांत्रिक प्रभाव भी पड़ा। यह बात अनेक मूर्तियों के देखने पर स्पष्ट हो जाती है।

अनेक प्राचीन शिलालेखों और ताम्रपत्रों में सूर्य के ध्यान तथा उनकी मूर्तियों या मंदिरों के निर्माण के महत्वपूर्ण उल्लेख मिले हैं। सातवाहन-वंशी शासक सातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका के नाना घाट में प्राप्त शिलालेख के प्रारंभ में अन्य प्रमुख देवों के साथ सूर्य देवता को भी नमस्कार किया गया है। गुप्तवंशी सम्राट कुमारगुप्त प्रथम के समय का एक शिलालेख मंदसौर (प्राचीन दशपुर) में मिला है। इस लेख से ज्ञात हुआ है कि लाट (प्राचीन गुजरात) से आकर दशपुर (पश्चिमी मालवा) में बसनेवाले जुलाहों की एक श्रेणी द्वारा दशपुर में सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया गया था। इस क्षेत्र का यह मंदिर बहुत प्रसिद्ध था।

इन्दौर (जि.बुलंदशहर, उत्तर प्रदेश) से एक ताम्रपत्र गुप्त स्कंदगुप्त के समय का मिला है। उसमें लिखा है कि इस स्थान पर क्षत्रिय अचलवर्मा तथा भृकुंठ सिंह द्वारा भगवान भास्कर का मंदिर बनवाया गया था और वहाँ के तेलियों की श्रेणी-द्वारा मंदिर में निरंतर दीप प्रज्वलित रखने के लिए दान दिया गया। यह कार्य ब्रह्मदेवविष्णु को सौंपा गया।

अनेक प्राचीन सिक्कों तथा मुहरों से भी प्राचीन सूर्यपूजा और सूर्य के महत्व पर प्रकाश पड़ा है। पंचाल के राजाओं में से दो के नाम क्रमशः सूर्यमित्र और भानुमित्र थे। इन दोनों ने जो सिक्के चलाये उन पर एक ओर ब्रह्मी में उन्होंने अपना नाम लिखवाया और दूसरी ओर सूर्य की प्रतिमा प्रदर्शित की। कई सिक्कों पर सूर्य की आकृति में उनके हाथ-पैर भी दिखाने का प्रयास किया गया है। सूर्य का प्रभामंडल किरणयुक्त दिखाया गया है। इन शासकों का समय ईसवी पूर्व प्रथम से ई. द्वितीय शती के बीच का है। कुषाणवंशीय शासकों ने 'मीरो' (मिहिर) वाले अपने सिक्के चलाये, जिन पर सूर्य की आकृति भी मिलती है। उज्जयिनी में ईस्वी पूर्व प्रथम शती में शासन करनेवाले एक राजा सवितृकी मुद्रा मिली है। भारत के बहुसंख्यक आहत तथा जनपदीय सिक्कों पर सूर्य का अंकन प्राप्त हुआ है।

मध्यप्रदेश की नर्मदा तथा बेतवा की घाटियों में हाल में कुछ रोचक शिलागृह ढूँढ़े गये हैं, जिनमें से अधिकांश चित्रित हैं। चित्रों में स्वस्तिक, वेदिकावृक्ष, चंद्रमेरु-जैसे चिह्नों के साथ सूर्य-चिह्न का भी आलेखन है, जो विशेष उल्लेखनीय है।

हर्षदराय प्राणशंकर के मतानुसार-कई प्राचीन शिल्पविद् और स्थापत्यविद् सूर्यमूर्तियों को तीन भागों में विभक्त करते हैं- (1) राजस्थान के प्रकार की सूर्य-मूर्तियाँ, जो जूनागढ़, टेंक और राजकोट में दिखायी पड़ती हैं। (2) चौत्मुक्य प्रकार की मूर्तियाँ, जो मोठेरा के सूर्यमंदिर में पायी जाती हैं और (3) मिश्रित प्रकार की सूर्य-मूर्तियाँ, जो प्रभास, कदवार और थान में पायी जाती हैं।

कई मूर्तियों में सूर्यनारायण के दो और कई मूर्तियों में चार हाथ में कमल होते हैं। सूर्यनारायण सात अश्वों के रथ में घूमते दिखायी पड़ते हैं-'**सप्ततुरंगवाहनः।**' कई-कई जगहों पर अश्वों के ऊपर सर्प की लगाम पायी जाती है-'**भुजगयमिताः सप्ततुरगाः।**' रथ का वाहक अरुण पादहीन होता है-'**चरणरहितः सारथिरपि।**' रथ का एक ही पहिया दीखता है-'**रथस्यैकं चक्रम्।**' दो पुरुष-अनुचर-शूल पकड़ता हुआ दंड और लेखन-साधन के साथ कुंदी तथा दो पत्नियाँ-प्रभा और छाया होती हैं। मूर्तियाँ कवचयुक्त और पादत्राणयुक्त होती हैं। कई मूर्तियों में सूर्य-भगवान कमल पर बैठे नज़र आते हैं और सात अश्वों के रथ में घूमते दिखायी पड़ते हैं। कई मूर्तियाँ सैनिक की पोशाक में सुसज्जित हैं। अस्त्र-शस्त्र युक्त इन मूर्तियों के पैरों में पाँव की अँगुलियाँ ढक जाएँ वैसे पादत्राण पहनाये गये हैं। नंगे पैरवाली मूर्तियाँ भी क्वचित् दृष्टिगोचर होती हैं।

कई मूर्तियों में सूर्य की दो पत्नियाँ-प्रभा और छाया (कई पुराणों के अनुसार ऊषा और प्रत्यूषा) के साथ दो अन्य पत्नियाँ राज्ञी और निक्षुभा भी दिखायी देती हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मत्स्यपुराण और स्कन्दपुराण में राज्ञी और निक्षुभा सूर्य की पत्नियाँ हैं। श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल की दृष्टि से इस देश की पुरानी परंपरा के अनुसार ऊषा और

प्रत्यूषा सूर्य की पत्नियाँ हैं। इस मान्यता के साथ राज्ञी और निक्षुभा की परंपरा बाहर से आकर मिल गयी। ईरानी मिश्र (मिहिर) धर्म के अनुसार मिश्र के दो पार्श्वचर थे-एक रश्न और दूसरा नरोफ। ये रश्न और नरोफ ही रूपांतरित होकर भारतीय सूर्यपूजा में राज्ञी और निक्षुभा कहलाये।

गुजरात राज्य के वीरम गाँव तालुके के अधारगाँव से चौबीस आरस प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें प्रथम प्रतिमा की कला विशिष्ट है। यह प्रतिमा चतुर्भुज हैं। दो भुजाएँ योगमुद्रायुक्त हैं और दो भुजाओं में कमल हैं। अन्य मूर्तियाँ विष्णु की हैं। इसी कारण से कई लोगों की दृष्टि में प्रथम मूर्ति विष्णुमूर्ति ही है। लेकिन विष्णु के हाथ में चक्र होता है और उभय हस्त में कमलयुक्त मूर्ति सूर्य की ही होती है।

सूर्य के साथ अन्य ग्रहों की मूर्तियाँ भी होती हैं। सोमनाथ मंदिर के सूर्य-मंदिर की शिल्प-पंक्तियों पर नव आकृतियाँ हैं। उनमें प्रथम सात सूर्य, चंद्र, मंडल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि हैं। सिर पर कुंड को वहन करती हुई प्रतिमा, जिसके ऊपर का हिस्सा आदमी-जैसा है, राहु और केतु की ही हो सकती है। सोमनाथ के मंदिर की तरह थान के मंदिर में भी ऐसी ही आकृतियाँ हैं। राजकोट के अजायबघर में जो सूर्यमूर्ति है, उसके ऊपर वर्तुलाकार मुकुट पहनाया गया है। साथ में पिंगला, दंड, राज्ञी, सवर्णा, छाया और सुवर्चसा हैं। जूनागढ़ के अजायबघर में पत्थर के चौक में सूर्य की दो प्रकार की मूर्तियाँ हैं। एक उत्कटिकासन अवस्था में सात अश्वों वाली मूर्ति है। बाहर ऊषा और प्रत्यूषा हैं। अन्य एक गवाक्ष में सूर्य की खड़ी हुई मूर्ति है। महाराष्ट्र के भाजाकी गुफाओं में सूर्यनारायण रथ चलाते हुए दिखाये गये हैं। रथ के पहिये आसुरी तत्वरूप अंधकार के राक्षस को कुचलते हुए दिखाये गये हैं।

सोलंकी राजा भीमदेव पहलाने छठी शताब्दी में मोढेरा (गुजरात) में सूर्य-मंदिर बनवाया था। यह मंदिर आज नष्टप्राय दशा में है। इस मंदिर में ईरान की शिल्पकला का प्रभाव दिखायी पड़ता है। उसकी दीवारों पर जूते और कमरपट्टेवाले सूर्यनारायण की मूर्ति है।

मथुरा के संग्रहालय में भिन्न-भिन्न मुद्राओं वाली, लाल पत्थरों से बनी हुई कई सूर्य-मूर्तियाँ हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में ये मूर्तियाँ बनायी गयी थीं।

मोढरा और कोणार्क (उड़ीसा) के सूर्य-मंदिर भारत-प्रसिद्ध हैं। उनमें कोणार्क का मंदिर गंगवंश के राजा नरसिंह देव ने कलिंग-स्थापत्य-शैली में बनवाया है। कोणार्क-मंदिर सात वेगयुक्त अश्वों के द्वारा खींचे जाते हुए सूर्य-रथ के रूप में बनाया गया है। कश्मीर के मटन तीर्थ में मार्तण्ड-मंदिर में मनोहर सूर्य-मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर का उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में आता है। सिकंदर ने इस मंदिर का नाश किया था। मुलतान के, जो अभी पाकिस्तान में है, सूर्य-मंदिर में भी मनोहर सूर्य-मूर्तियाँ हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने ई. सन् 641 के यात्रा-वर्णन में इस मंदिर का उल्लेख किया है। पहले महमूद गजनवी और बाद में औरंगजेब ने मुलतान के मंदिर को नष्ट किया था। आंध्र प्रदेश के अरसाविल्ली नाम के स्थान में भी नयनरम्य सूर्य-मूर्तियाँ हैं। सूर्यनारायण के साथ प्रभा और छाया भी हैं।

विसावडा और गोप में अब सूर्य-मूर्तियाँ नहीं हैं, लेकिन पहले थीं। सूत्रापड़ा, त्रिवेणी, थान, पास्थर और किन्दरखेड़ में प्राचीन सूर्य-मंदिर अवश्य हैं, परंतु इन मंदिरों में उपलब्ध मूर्तियाँ अर्वाचीन हैं। कुंभकोणम् के नागेश्वर-मंदिर में भी सूर्य-मूर्तियाँ हैं। दक्षिण भारत के सूर्यनारकोइल और महाबलीपुर में भी सूर्य-मूर्तियाँ पायी जाती हैं।

जानकीनाथ शर्मा ने मिराशी, हाजरा एवं दे के प्रबंध से तथ्यों को संग्रहित करते हुए लिखा है- भारत में पूजा, मंदिर-निर्माण, प्रतिमाराधन आदि वैदिक पुराणों से अत्यन्त प्राचीन काल से ही सिद्ध है। नारदादि ऋषि एवं सूर्यवंशी क्षत्रिय सूर्याराधक थे। द्वापर में भगवान कृष्ण एवं सांब विशेष्ज्ञ सूर्याराधक हुए। इनमें सांब का विस्तृत चरित्र सांबविजय, सांब-उपपुराण तथा वराह, भविष्य, ब्रह्म एवं स्कन्दादि महापुराणों में प्राप्त होता है। उन्होंने कुष्ठ रोग से मुक्ति के लिए मूलस्थान में सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया एवं सूर्य की आराधना द्वारा उनकी कृपा प्राप्त

कर रोगमुक्त हुए। सूर्यदेव ने उन्हें अपनी प्रतिमा-लाभ एवं स्थापना की भी बात बतलायी। शीघ्र ही उन्हें चंद्रभागा (कोणार्क के पास) नदी में एक बहती हुई विश्वकर्मानिर्मित प्रतिमा भी मिली, जिसे उन्होंने मित्रवन में स्थापित किया। भगवान सूर्य ने सांब को फिर प्रातःकाल सुतीर (मुंडीर), मध्याह्न में कालप्रिय (कालपी) तथा सायंकाल में मूलस्थान में अपने दर्शन की बात बतलायी-

सांनिध्यं मम पूर्वाह्ने सुतीरे द्रक्ष्यते जनः।
कालप्रिये च मध्याह्ने पराह्ने चात्र नित्यशः।।

तदनुसार सांब ने उदयाचल के पास सुतीरपर, यमुनातट पर कालपी में तथा मूलस्थान (मुल्तान) में सूर्यप्रतिमाएँ स्थापित कीं। सुतीर की तरह स्कंदपुराण में मुंडीर पाठ प्राप्त होता है। तथा सांबपुराण में इसे रविक्षेत्र या सूर्यकानन कहा गया है। ब्रह्मपुराण में इसे कोणादित्य या उत्कल का कोणार्क कहा गया है, जो वस्तुतः पुरी से 30 मील दूरी पर स्थित आज का कोणार्क नगर ही है। हाजरा (Studies in the Upparanas I, page 106) के अनुसार वर्तमान सूर्यमंदिर को गांगनृसिंहदेव ने प्रथम शती विक्रमी में निर्माण कराया था।

वराहपुराण के अनुसार सांब ने कुष्ठमुक्ति के लिए श्रीकृष्ण से आज्ञा प्राप्त कर भुक्तिमुक्ति फल देनेवाली मथुरा में आकर देवर्षि नारद की बतायी विधि के अनुसार प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में उन षट्सूर्यों की पूजा एवं दिव्य स्तोत्र द्वारा उपासना आरंभ की। भगवान सांब के सामने आकर कहा-'साम्ब! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मुझसे कोई वर माँग लो और मेरे कल्याणकारी व्रत एवं उपासनापद्धति का प्रचार करो। मुनिवर नारद ने तुम्हें जो 'सांबपंचाशिका' स्तुति बतलायी है, उसमें वैदिक अक्षरों एवं पदों से संबद्ध पचास श्लोक हैं1 वीर! नारद जी द्वारा निर्दिष्ट इन श्लोकों द्वारा तुमने जो मेरी स्तुति की है, इससे मैं पूर्ण संतुष्ट हो गया हूँ। ऐसा कहकर भगवान सूर्य ने सांब के संपूर्ण शरीर का

स्पर्श किया। उनके छूते ही सांब के सारे अंग सहसा रोगमुक्त होकर दीप्त हो उठे और दूसरे सूर्य के समान ही विद्योतित होने लगे। उसी समय याज्ञवल्क्यमुनि माध्यंदिन यज्ञ करना चाहते थे। भगवान सूर्य सांब को लेकर उनके यज्ञ में पधारे और वहाँ उन्होंने सांब को 'माध्यंदिन-संहिता' का अध्ययन कराया। तबसे सांब का भी एक नाम 'माध्यंदिन' पड़ गया। 'वैकुंठक्षेत्र' के पश्चिम भाग में यह स्वाध्याय संपन्न हुआ था। अतएव इस स्थान को 'माध्यंदिनीय' तीर्थ कहते हैं। वहाँ स्नान एवं दर्शन करने से मानव समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। सांब के प्रश्न करने पर सूर्य ने जो प्रवचन किया, वही प्रसंग 'भविष्यपुराण' के नाम से प्रख्यात पुराण बन गया। यहाँ सांब ने 'कृष्णगंगा' के दक्षिण तट पर मध्याह्न के सूर्य की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। जो मनुष्य प्रातः, मध्याह्न और अस्त होते समय इन सूर्यदेव का यहाँ दर्शन करता है, वह परम पवित्र होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त सूर्य की एक दूसरी उत्तम प्रातःकालीन विख्यात प्रतिमा भगवान 'कालप्रिय' नामक से प्रतिष्ठत हुई। तदनन्तर पश्चिम भाग में 'मूलस्थान' में अस्ताचल के पास 'मूलस्थान' नामक प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार सांब ने सूर्य की तीन प्रतिमाएँ स्थापित कर उनकी प्रातः, मध्याह्न एवं संध्या-इन तीनों कालों में उपासना की भी व्यवस्था की। 'वराहपुराण' का यह सांबोपाख्यान या 'सूर्योपासनाध्याय' बड़े महत्त्व का है। इसमें सूर्यभगवान के अत्यन्त दिव्य स्तोत्र 'साम्बपंचाशिक'-स्तुति तथा कोणार्क, कालपी एवं मुल्तान के प्राचीन भव्य सूर्य-मंदिरों का भी संकेत है, जिनकी प्रतिनिधिभूत अर्चाएँ मथुरा में प्रतिष्ठित थीं। इस विषय में अल्बरुनीके 'Indica p.298' का 'Multan was originally called Kasyapapura, then Hamsapur then bagpur, then Sambpur and then Mulasthan' यह कथन बड़े महत्त्व का है, जिसमें मुल्ताननगर के पूर्वनाम 'कश्यपपुर' या सूर्यपुर, फिर हंसपुर, बागपुर, सांबपुर तथा मूलस्थान आदि निर्दिष्ट हैं। इसी के खंड 1 पृ.1167 पर अल्बरुनी ने

इसके मंदिर तथा प्रतिमा ध्वंस की कथा का-'Jalam I Ben Shaiban, the userper, broke the idol into pieces and killed its priests.' आदि शब्दों में विस्तृत वर्णन किया है।) सांब ने 'भविष्यपुराण' में निर्दिष्ट विधि के अनुसार भी अपने नाम से प्रसिद्ध एक मूर्ति की यहाँ स्थापना करायी। मथुरा का वह श्रेष्ठ स्थान 'सांबपुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कालपी के सूर्य का विवरण भवभूति के सभी नाटकों में तो है ही, राष्ट्रकूट राजा इंद्र तृतीय के यात्राविवरण के साथ गोविंददेव तृतीय के कैम्बे प्लेट में भी इस प्रकार प्राप्त होता है-

यन्माद्यद्द्विपदन्तघातविषयं कालप्रियप्रांगणं
तीर्णा यत्तुरगैरगाधयमुना सिन्धुप्रतिस्पर्द्धिनी।
येनेदं हि महोदयारिनगरं निर्मूलमुन्मूलितं
नम्नाद्यापि जनैः कुशस्थलमिति ख्यातिं परां नीयते।।

मोहेड़ा का सूर्य-मंदिर भी प्राचीन है, पर इतिहास के विद्वान उसे 10 वीं शती विक्रमी में निर्मित मानते हैं।

।।दोहा।।
धन्य आदित परमेश्वर महिमा अगम अपार।
तीनो भुवन तुम भागे भई सकल उजीयार।।
कुष्टि ध्यान मन लावै पावै कायाक्षन।
अस प्रभु स्वामी अंतरजामी किपा करहू भगवान।।

-हे परमेश्वर! धन्य है तुम्हारी अपार अगम महिमा। तीनों लोकों में तुम्हारी ज्योर्तिमय उज्जवल छवि फैली हुई है।

तुम्हारा ध्यान करते ही हमारे शरीर का कायाकल्प हो जाता है। हे स्वामी! आप अन्तर्यामी हैं। आप मुझ पर कृपा कीजिए।

जो नर पढ़े व्रत मन लावै मनविचकर्म अनुमान।
सुर वर मुनि सब अस्तुती करही प्रसन्न होही बलवान।।

-जो मनुष्य सूरज देव की कथा मन-वचन-कर्मानुसार पढ़े उस पर देवता-मुनि प्रसन्न हो उठते हैं; तथा प्रसन्न होकर उसे बलवान बनने का आशीर्वाद देते हैं।

सब गुण आगर सोलस सागर तुम उजागर रूप निधान।
मन वच करम हर्षित भजन करही बखान।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे पंपा पुर हलधर विप्र कथा वरनेनामाष्टमोध्यायो: ।।

-वह मनुष्य जो सूरज पुराण पढ़ता है, मन-वचन-कर्म से हर्षित होकर सूर्य देव की कथा का व्याख्यान करता है वह रूपवान व गुणवान बनता चला जाता है। उसके गुण-कोष सोलह-सागर में भी नहीं समाता है।

सूरज महापुराण महात्म्य द्वारा **पंपापुर-हलधर विप्र कथा** का वर्णन **अष्टम अध्याय** में समाप्ति हुई।

मन विच कर्म कथा गुण गाई। सूरज चरित मै तुमहि सुनाई।।
सुनि गिरिजा चकित भय बानी। तेज प्रताप मुनि मन मुसकानी।।
ध्यान आदित जन कीइहि लीला। धर्म धुरंधर परम सुशीला।।

-हे गिरिजा! अब मैं उस सूरज देव के चरित्र का बखान करूँगा जिसे तुम मन-वचन-कर्म सहित गान करना।

गिरिजा ने जब यह शक्ति व प्रताप रूपी कथा सुनी तब वह चकित हो गई। उन्हें चकित जानकर शिवजी मन ही मन मुस्कुराने लगे। तत्पश्चात् वह गिरिजा जो धर्म-धुरंधर व परम सुशीला थी, सूरज देव की लीला कथा सुनकर धन्य हो गई।

जो नर कथा सूरज के गावै। चारु विमान वैकुंठ सिधावै।।
सूरज कथा है अमृतवानी। अस्तुति हरषित करहि भवानी।।

।।अस्तुती।।

तुम प्रभु स्वामी अंतरजामी जोति कला चौदस महा।
रूप निधाना श्री भगवाना करहू कृपा हम अधम महा।।

-देवी भवानी सूरज देव की कथा हर्ष सहित सुनकर कहने लगी- जो मनुष्य सूरज-कथा जो अमृत सदृश है, का गुणगान करे वह विमान चढ़कर वैकुंठ-गमन करता है।

।।छंद।। स्तुति ।।

-ओ प्रभु! अंतरयामी! तुम चौदह कला से पूर्ण सुंदर महान छवि हो। हे रूप निधान! श्री भगवान! मुझ महापापी अधम पर कृपा करो।

छवि ज्योति विराजै कुंडल छाजै तव प्रताप है तीन भुवन।
महिमा प्रभु तेरी अते घनेरी लेत नाम पातक हरन।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे दक्षिण दिसा राजरूप महेश्वर वरणो नाम नवमोध्यायः।।

-तुम्हारी सुंदर मुख ज्योत से प्रकाशित, कान कुंडल द्वारा सुशोभित व प्रताप से तीनों भुवन पराजित हैं। तुम्हारी महिमा इतनी अपार है कि नाम लेते ही पापों का नाश हो जाता है।

सूरज-महापुराण महात्म्य द्वारा **दक्षिण दिशा राजरूप महेश्वर** की कथा का वर्णन **नवम अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

गिरिजा कहही दोनो कर जोरी। एक संदेह अव रमन मोरी।
उत्तर दिसा कहिउ गही गुसाई। सो मोही नाथ कहौ समुझाई।।

-अब गिरिजा शंकर के सम्मुख हाथ जोड़कर कहने लगी कि-हे शिव! मेरे मन में एक संदेह है। कृपया वह कथा मुझे समझाइए जिस में इंद्रियों के स्वामी सूरज देव के उत्तर दिशा में रहने का वर्णन है।

कही ल सिव कथा रिसाला। जेहि विधि उत्तर गही गुपाला।।
उत्तर दिसा कर कथा कहानी। मन अस्थिर कै सुनहू भवानी।।
तहां सैल एक बड़ा विस्तारा। सौ जजन सो कुच पहारा।।

-गिरिजा के संदेह को दूर करते हुए शिवजी रसपूर्ण कथा कहने लगे। उत्तर दिशा में एक विशाल नगर था जहाँ मदन गोपाल राज्य किया करते थे। वहाँ एक विस्तृत पवर्त था जो सौ योजन फैला हुआ था। हे भवानी! अब इस कथा को मन स्थिर कर सुनो!

कंपै भान किरन नहि यावै। एहि विधि नगर अधियार जनावै।।
तहां वास कलि जुग कर होई। ज वसो पाप म्लेच्छ होई सोई।।

इह विधि कवही उगहि भाना। मै तु ही अर्थ कहौ बखाना।।

-उस पर्वत ने नगर को इस प्रकार ढाँप रखा था जिससे सूर्य का प्रकाश वहाँ पहुँच नहीं पाता था। फलस्वरूप नगर में सदैव अंधकार फैला हुआ रहता था। उस नगर में कलि-युग का वास था; तभी वहाँ पापी-मलच्छों का भरमार था। इसी कारण वहाँ सूर्य का उदय नहीं होता था। अब मैं तुम्हें इसके अर्थ समझाऊँगा।

एक समै अचरज अस भयो। नारद मुनि तहा चलि गयो।
देखि नगर सकल अंधियारा। धर्म कथा कर नाम बिसारा।
फिर फिर नगर सकल मुनि देखा। पाप सिवाइ अवरन हि लेखा।

-एक बार एक आश्चर्य जनक घटना हुई। उस नगर में नारद मुनि का आगमन हुआ। उन्होंने देखा कि पूरे नगर में अंधकार फैला हुआ है। नगरवासी धर्म-नियम-व्रत भूल चुके हैं। नारद मुनि ने घूम-घूमकर नगर में फैले हुए पाप के आवरण को देखा।

मन महि नारद करि विचारा। कहा आई हम नग्र अंधियारा।
अस कहि नारद कोपित जबहि। नगर स्राप दियो मुनि तबहि।
कुष्ट होवै सकल नर नारी। धर्म कथा कर नाम विसारी।।
कुष्ट वरन भई सब के अंगा। आठो वरन भई सकल तन भंगा।।

नारद मन ही मन विचारने लगे कि-"कहाँ मैं इस अंधेरी नगरी में आ गया हूँ।" इस नगर की स्थिति विचारते ही वे क्रोधित हो उठे व क्रोधवश सभी नगर वासी को उन्होंने शाप दे डाला। उन्होंने शाप देते हुए कहा-"चूँकि तुम सभी ने धर्म-कथा का विस्मरण कर डाला है इसलिए

तुम सब को कुष्ठ-रोग हो जाए।" नारद के शाप से सभी नगर वासी कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गए व उनके शरीर कुष्ठ से गलने लगे।

कोऊ नरहा कुष्ट सो बाकी। सबके कुष्ट वरभो साबी।।
विकल भई तहां नर अरु नारी। अहि सब करहि पुकारी।।
श्राप करी मुनि सूरज एहि आए। उत्तर दिसा कर अर्थ जताई।।

-उस नगर में कोई भी वासी कुष्ठ-विहीन नहीं रहा। नारद मुनि के श्रापवश सभी कुष्ठ-रोग से ग्रस्त थे। रोग-पीड़ित होकर सभी नर-नारी व्याकुल होकर त्राहि-त्राहि रव से पुकारने लगे। "उत्तर-दिशा से आनेवाले मुनि ने शाप क्यों दिया"-सबके मन में यही प्रश्न था।

सुनत कथा आदित मुसकाने। कहाँ गए मुनि उत्तर बुलाने।।
श्रापित करे उत्तर कह आये। अब हमरे पहवान जताई।।
अब कहू मुनि मै पूछे तोही। उग्रहू श्राप कब होइ हवोही।।
कह न लगी नारद मुनि तबही। अंग बरन देखा मुनि तबही।।

-नगर वासियों के प्रश्न सुनकर सूरज देव मुस्कुराने लगे। उन्होंने उत्तर दिशा से नारद मुनि को बुलवाया व उनसे पूछा कि-"हे नारद मुनि! आप ही बताएँ कि आपने ऐसी भयंकर शाप नगरवासियों को क्यों दी?" प्रश्न सुनकर नारद मुनि ने सबके अंग के वर्ण को निहारा व कहने लगे-

अंग वरन देखा मुनि कैसे। मानहू सरोवर जैसे।।
चकित भऐ मुनि देख कै अंगा। निकसे चरन सकल तन भंगा।।
तन महि कुष्ट मुनि कहि भयो। वाकुल होइ सूरज सो कहियो।।

-नारद मुनि ने सभी नगरवासियों को देखा तो पाया कि वे सभी हंस के समान श्वेत वर्ण के हो गए हैं। वे यह देखकर चकित रह गए कि नगरवासियों के अंग-भंग हो चुके थे। यह दृश्य देखकर उन्होंने व्याकुल होकर सूरज देव से नगरवासियों के अनाचार का वर्णन किया।

अब कहू प्रभु मै पूछ हू तोही। कै ति दिन अंग वरन रहे मोही।।
कृपा सिंधु प्रभु परम अगाधा। वरन भई तन के अपराधा।।
सो मोहि नाथ कहौ समुझाई। जे हिते अंग वरन मिटि जाई।।

तब नगरवासी नारद मुनि से पूछने लगे-'हे मुनि! अब इस समस्या का समाधान आप ही से पूछते हैं। हे प्रभु! कृपा-सिंधु, परम अगाध चरित्र के स्वामी! किस अपराध से हमारे शरीर का वर्ण यों हो गया है? हे नाथ! हमें वह उपाय बताएँ जिससे हमारे अंग से श्वेत-वर्ण समाप्त हो जाए।

तब प्रभु कहा सुनहू मम बानी। उहां के लोक सकल गुन ग्यानी।।
सब कहू स्राप दियो तुम भारी। व्याकुल भये सकल नर नारी।।
सब कर अंग भंग तुम कीन्हा। उत्तर जाइ स्राप तुम दीन्हा।।

-सूरज ने नारद को संबोधित करते हुए कहा कि-'हे मुनि! मेरी बात सुनिए। ये नगरवासी सभी गुणवान व ज्ञानी हैं। पर आपने इन सबको भयंकर शाप दिया। जिससे सभी नर-नारी व्याकुल हैं। किस कारण उत्तर दिशा में जाकर तुमने शाप देकर सबका अंग-भंग किया?'

।।दोहा।।
अब मै कहो तुम सुन कथा पुनीत अनंग।
उग्र स्राप न आपन करहू वरन मेटे तव अंग।।

-नारद ने प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा-हे सूरज देव! आप पवित्र कामदेव समान सुंदर हैं। कृपया सुनिए कि मैंने यह भयंकर शाप क्यों दिया।

।।चौपाई।।

निकट वचन नारद सनमाना। रहि मुनि मा कह कीन्ह पयाना।।
निकसत गुण सभ जाने। पुलकित प्रेमहि अति हरखाते।।

-नारद जी सम्मान सहित कहने लगे कि क्यों उन्होंने यह कार्य किया। उन्होंने नगरवासियों के रहन-सहन की विधि का वर्णन किया।

द्वादश दिन महि उत्तर गयो अपना। आप अनुग्रह कियो।।
सबका कुष्ट मिटे जबहि। नारद श्राप अनुग्रह तबही।

-बारह दिनों के बाद नारद मुनि उत्तर दिशा में स्थित नगर में पहुँचे व उनके अनुग्रह से नगरवासियों की शाप से मुक्ति हो गई।

।।दोहा।।

नारद उत्तर जाइके स्राप अनुग्रह कीन्ह।
तेज प्रताप आदित कर हषित वरनै लीन्ह।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणो नारद स्राप अनुग्रह वरनोनाम दशमोध्यायः।।

-इस प्रकार नारद मुनि ने उत्तर दिशा के नगर वासियों को श्राप के साथ-साथ अनुग्रह भी किया। उन्होंने सूर्य देव के प्रताप से इस भयंकर श्राप से नगरवासियों का उद्धार भी किया।

सूरज-पुराण महात्म्य द्वारा **नारद-श्राप-अनुग्रह** का वर्णन करते हुए **दशम अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

अस कहि मुनि आदित पहि आए। उत्तर दिसा कर अर्थ जताए।
आप अनुग्रह कीन्ह गुसाई। धन्य प्रताप तुर्मार वरनि न जाई।।
अस मुनि आदित हरषित भयोउ। दया लागी तव मुनि सो कहिउ।।
अब जनि ऐसे भुस बुलाऊ। आसीर्वाद लेहू घर जाहू।।

-नारद मुनि ने उत्तर दिशा के नगरवासियों की दुर्दशा की पूरी कथा सूरज-देव को सुनाई। उन्होंने कहा-

"हे सूरज देव! इंद्रियों के स्वामी! आप ही इन नगरवासियों पर अनुग्रह कीजिए। आपके धन्य प्रताप अवर्णनीय हैं।" मुनि के वचन सुनकर आदित्य-देव प्रसन्न हुए व दया द्रवित होकर कहने लगे-"अब कुछ ऐसा उपाय करो जिससे सबके रोग मिट जाएँ व सब निरोग होकर तुम्हें आशीर्वाद देते हुए अपने घर वापस जाएँ।

बहुत कृपा भयो मुनि पर भारी। वरनिन जाइ ज्योति अधिकारी।।
विदा होई मुनि ग्रह को आई। हर्षित होई सूरज गुण गाई।।
हरषित संग लगावहि नारी। धन्य सूरज सब करहि पुकारी।।

ज्योति के अधिकारी सूरज देव ने नारद मुनि पर ऐसे कृपा की कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सके। नारद मुनि उनसे विदा लेकर हर्षित

होकर सूरज की गुण गान करते हुए गृह वापस आए। सभी नर-नारी भी सूरज देव के गुण-गान करने लगे।

धन्य आदित काया के राजा। जाके ज्योति चहू ओर विराजा।।
कोटि विप्र तद्यं निवति जिवावा। अस्तुति नारद सूरज के गावा।।
अश्वमेधी जग करन मुनि लागे। तीन भुवन के दरिद्र भागे।।

-मुनि ने नगरवासियों से कहा कि-"आदित्य देव धन्य हैं। वे शरीर के राजा हैं। उनकी ज्योति चारों ओर विराजित है।" इस प्रकार नारद ने सूरज देव की स्तुति की। तत्पश्चात उन्होंने अवश्मेघ यज्ञ का आयोजन कर करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन का न्योता दिया। इस आयोजन से तीनों भुवन के द्वारिद्र्य की समाप्ति हो गई।

सब कहि नारद नेवत पठाय। रथ चढ़े देवत तहां सब आए।
ब्रह्मा विस्नु आप त्रिपुरारी। आप सकल सहित नर नारी।।
बहू प्रकार मुनि सबहि जिवाय। हरषित होइ सूरज गुण गाय।।

-नारद मुनि ने यज्ञ के अवसर पर सभी देवताओं को भी निमंत्रित किया। ब्रह्मा, विष्णु, त्रिपुरारी-शिव सभी रथ चढ़कर उस अनुष्ठान में आ पहुँचे। नारद मुनि ने बहु विध भोजन द्वारा अतिथियों का सत्कार किया व सभी आनंदित होकर सूरज देव के गुण-गान करने लगे।

हरषित मंगल गावहि नारी। ब्रह्मन वेद पड़े जै जै कारी।।
अछत चंदन पान पकवाना। पूजा करहि धरहि मुनि ध्याना।।
हरषित होइ सूरज गुण गावा। ताल पखावज जंसख बजावा।।

सभी ब्राह्मण वेद के मंत्र पढ़ते हुए सूरज देव की जय-जयकार कर रहे थे। नारीगण प्रसन्नता के साथ मंगल गान गा रही थीं। इस प्रकार अक्षत, चंदन, पान व मिष्टान्न आदि सामग्री से सूरज देव की पूजा कर सभी उनका ध्यान करने लगे। ढोल, मृदंग, पखावज के झंकार से वातावरण गुंजरित होने लगा।

।।दोहा।।

जग्य कीन्ह मुनि नारद सोभा वरनीन जाइ।
तेतींस कोटी देवता हरषि कथा गुन गाई।।

-नारद मुनि ने जिस प्रकार से यज्ञ का आयोजन किया, उसकी शोभा अवर्णनीय थी। इस यज्ञ में तैंतीस करोड़ देवता प्रसन्नता सहित सूरज महेमा का गान करने लगे।

।।चौपाई।।

जो नर धरे कथा पर ध्याना। जाके होइ पुत्र कल्याना।
जो यह कथा पढ़े मन लाई। ता पर आदित होइ सुहाई।।
धन प्रताप आदित बलवाना। तेज प्रताप तुम्हीं अग्नि समाना।।

इस प्रकार जो मनुष्य सूरज देव की कथा को ध्यान से मनन-श्रवण करता है उसे इच्छित पुत्र-प्राप्ति होती है व आदित्य देव उस पर प्रसन्न हो उठता है। हे शक्तिशाली अग्निदेव! धन्य हैं आपके प्रताप, आपकी तेजस्विता अग्नि सदृश है।

छांदोग्य उपनिषद (1/5/1-2) में सूर्य को प्रणव कहकर, उनकी ध्यान साधना से पुत्र प्राप्ति का लाभ बताया गया है। कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र को एक समय बताया था कि मैंने इसी आदित्य का ध्यान किया, इससे तू मेरा पुत्र हुआ। तू भी यदि सूर्य-रश्मियों का उसी प्रकार ध्यान

करेगा तो तुम्हें भी पुत्र होगा। जो सूर्य का ध्यान करते हुए प्रणव की साधना करते हैं, उसे पुत्र की प्राप्ति होती है; क्योंकि सूर्य ही प्रणव है।

।।दोहा।।

गिरिजा पूछहि सुभ सुनु सूरज चरित्र मन लाई।।
दच्छिन दिसा कहाउ गीत है नाथ कहे समुझाई।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे नारद जग्य सोभा भावरनेनाम एकादशोध्यायः।।

इस प्रकार गिरिजा शिव-शंभु को भानु-चरित के बारे में पूछते हुए कहने लगी-"हे शिवजी। दक्षिण दिशा को पवित्र क्यों माना जाता है मुझे समझाइए।"

सूरज महापुराण महात्म्य के **नारद-यज्ञ-शोभा** का वर्णन करते हुए **एकादश अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

कहै शिव सुनु सैल कुमारी।। सूरज चरित्र मै कहौ विचारी।।
कहत लगे शिव कथा बुझाई। एहि विधि दच्छिन उगहि गुसाई।।
दच्छिन दिसा एक नगर अरूपा। जैमल विप्र तहां के भूपा।।

-शिवजी कहते हैं-'सुनो शैल कुमारी! मैं तुम्हें सूरज की कथा समझाकर कहता हूँ। वे किस तरह दक्षिण दिशा में प्रकट हुए; वही कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ।' दक्षिण दिशा में सुंदर नगरी थी जहाँ जयमल नामक ब्राह्मण राजा रहते थे।

हरषित भजन करै दिन राती। तहां रहहि आदित बहू भांती।।
इहि विधि विप्र कै ज्योति विराजै। अनाहद नाद घट घुनि बाजै।।
तेतीस कोटी देवत तहां। श्री जगन्नाथ के आश्रम जहां।।

वे आनंद सहित रात दिन भजन पूजन करते थे। उस नगरी में सूरज देव अपनी ज्योति सहित विराजमान थे। वहाँ के वातावरण में अनहद नाद व घंटा ध्वनि गूँजा करती थी। श्री जगन्नाथ का (सूरज देव) आश्रय वहीं पास स्थित था जहाँ तैंतीस करोड़ देवता भी निवास करते थे।

दच्छिन बसहि काशी प्रयागा। तहां वसहि सब लोक सोभागा।।
सहोद्रा बलभद्र तहां संगा। तहा बसहि सरस्वती गंगा।।
कृपा सिंधु प्रभु परम अगाधा। निस दिन भजन करै औ राधा।।

-दक्षिण दिशा में काशी व प्रयाग नगरी थी जहाँ के निवासी बड़े सौभाग्यवान थे। भ्राता सहित बलभद्र भी वहाँ रहते थे। सरस्वती व गंगा नदी का बहाव वहीं था। इस प्रकार सभी लोग रात-दिन बिना किसी विघ्न के कृपा के सागर परम प्रतापवान प्रभु सूरज देव के भजन-पूजन किया करते थे।

।।दोहा।।
दच्छिन दिसा पुनीत है सुनहू उमा चितलाई।
आगिल अर्थ जस होई है सो मोहि कहौ समुझाई।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे दच्छिन दिसा राजा जैमल विप्र कथा वर्णननोनान द्वादशोध्यायः।।

इस प्रकार शिवजी ने उमा को दक्षिण दिशा की पवित्रता समझाते हुए उसका अर्थ व महात्म्य समझाने लगे।

सूरज महापुराण महात्म्य के **दक्षिण-दिशा राजा जयमल विप्र की** कथा का वर्णन **द्वादश-अध्याय** की समाप्ति हुई।

।।चौपाई।।

कलि जुग गति होइ जब जैहै। मानुष कैतव मानुष खै है।।
तब प्रभु ली है अवतार कलंकी। मानुष तन तहोइ है जस पंकी।।
दच्छिन दिसा रवि उगी है जाई। आगिल अर्थ कहौ समुझाई।।

-आगे की कथा समझाते हुए शिव जी गिरिजा से कहते हैं-जब कलि युग का अवतरण हुआ तो अनाचार इतना फैल गया कि मानव, मानव को पकड़कर खाने लगे। इस प्रकार जब मनुष्य-शरीर अनाचार के कीचड़ में डूबने लगा तब प्रभु सूरज ने कल्की अवतार के रूप में जन्म लिया।

धर्म कथा चलि है बहू भांती। नेम धर्म करि है दिन राती।।
विप्र जीवाई आयु तजे इहै। निहचे नाम सूरज के गई है।।
लच्छमी धर घर करहि निवासा। धर्म कथा जहां होइ प्रगासा।।

सूरज देव ने कल्की अवतार के रूप में मनुष्य शरीर धारण कर अनेक व्रत-कथा, धर्म-कथा का प्रवचन करवाया। ब्राह्मणों को आमंत्रित कर भोजन करवाया। जिस घर में धर्म-कथा का व्याख्यान होता वहीं लक्ष्मी का निवास होता था।

मिथ्या वचन कोई नहि भाखै। निसदिन टेक सूरज पर राषै।।
धर्म विचार सूरज तहां करी है। द्वादश कला ज्योति तहां वरिहै।।

-उस नगर में सब सदाचारी थे। कोई मिथ्या वचन नहीं कहते। इसलिए सूरज देव भी अपने बारह-कला के साथ वहाँ विराजित होने लगे।

।।दोहा।।
द्वादश कला लै उगी है आदित तवही आई।।
पुरवी ले जनम के पात कथा पढ़त च्हे जाई।।

इस प्रकार, जहाँ सूरज देव की कथा पढ़ी जाए वहाँ वे अपनी द्वादश कला के साथ ज्योतिर्मान होते हैं, जिसे पढ़ते ही पूर्व जन्म के सभी पाप का क्षय हो जाता है।

यह पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि प्राचीन वैदिक काल में छः ऋतुओं में छः आदित्यदेव माने जाते थे, जो सूर्य के नाम से अभिहित थे। पर बाद में बारह महीने के बारह आदित्य हुए-सुधाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भर्ग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु। द्वादश आदित्य के पौराणिक कथा का विवेचन करते हुए राधेश्याम जी लिखते हैं-

(1) **लोकार्ककी कथा-** किसी समय भगवान् शिव को काशी का वृत्तांत जानने की इच्छा हुई। उन्होंने सूर्य से कहा-सप्ताश्व! तुम शीघ्र वाराणसी नगरी में जाओ। धर्ममूर्ति दिवोदास वहाँ का राजा है। उसके धर्मविरुद्ध आचरण से जैसे वह नगरी उजड़ जाए, वैसा उपाय शीघ्र करो; किंतु राजा का अपमान न करना।

भगवान् शिव का आदेश पाने के अनंतर सूर्य ने अपना स्वरूप बदल लिया और काशी की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने काशी पहुँचकर

राजा की धर्मपरीक्षा के लिए विविध रूप धारण किए एवं अतिथि, भिक्षु आदि बनकर उन्होंने राजा से दुर्लभ-से-दुर्लभ वस्तुएँ माँगी, किंतु राजा के कर्तव्य में त्रुटि या राजा की धर्म-विमुखता की गंध तक उन्हें नहीं मिली।

उन्होंने शिवजी की आज्ञा की पूर्ति न कर सकने के कारण शिवजी की झिड़की के भय से मन्दराचल लौट जाने का विचार त्यागकर काशी में ही रहने का निश्चय किया। काशी का दार्शन करने के लिए उनका मन लोल (सतृष्ण) था, अतः उनका मन लोल (सतृष्ण) था, अतः उनका नाम 'लोलार्क' हुआ। वे गंगा-असि-संगम के निकट भद्रवनी (भदैनी) में विराजमान हैं। वे काशीनिवासी लोगों का सदा योग-क्षेम वहन करते रहते हैं। वाराणसी में निवास करने पर जो लोलार्क का भजन, पूजन आदि नहीं करते हैं, वे क्षुधा, पिपासा, दरिद्रता, दद्रु, (दाद) फोड़े-फुंसी आदि विविध व्याधियों से ग्रस्त रहते हैं।

काशी में गंगा-असि-संगम तथा उसके निकटवर्ती लोलार्क आदि तीर्थों का माहात्म्य स्कन्दपुराण आदि में वर्णित है-

सर्वेषां काशितीर्थानां लोलार्कः प्रथमं शिरः।
लोलार्ककरनिष्टप्ता असिधारविखण्डिताः।।
काश्यां दक्षिणदिग्भागे न विशेयुर्महामलाः।।

(-स्कन्दपु. काशीखण्ड 46।59, 67)

(2) **उत्तरार्क की कथा-** बलिष्ठ दैत्यों द्वारा देवता बार-बार युद्ध में परास्त हो जाते थे। देवताओं ने दैत्यों के आतंक से सदा के लिये छुटकारा पाने के निमित्त भगवान् सूर्य की स्तुति की। स्तुति से सम्मुख उपस्थित प्रसन्नमुख भगवान् सूर्य से देवताओं ने प्रार्थना की कि बलिष्ठ दैत्य कोई-न-कोई बहाना बनाकर हमारे ऊपर आक्रमण कर देते हैं और हमें परास्त कर हमारे सब अधिकार छीन लेते हैं। निरन्तर की यह महाव्याधि सदा के लिए जैसे समाप्त हो जाए, वैसा समाधायक उत्तर आप हमें देने की कृपा करें।

भगवान् सूर्य ने विचार कर अपने से उत्पन्न एक शिला उन्हें दी और कहा कि यह तुम्हारा समाधायक उत्तर है। इसे लेकर तुम वाराणसी जाओ और विश्वकर्मा द्वारा इस शिला की शास्त्रोक्त विधि से मेरी मूर्ति बनवाओ। मूर्ति बनाते समय छेनी से इसे तराशने पर जो प्रस्तर खण्ड निकलेंगे वे तुम्हारे दृढ़ अस्त्र-शस्त्र होंगे। उनसे तुम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे।

देवताओं ने वाराणसी जाकर विश्वकर्मा द्वारा सुंदर सूर्यमूर्ति का निर्माण कराया। मूर्ति तराशते समय उससे पत्थर के जो टुकड़े निकले, उनसे देवताओं के तेज और प्रभावी अस्त्र बने। उनसे देवताओं ने दैत्यों पर विजय पायी। मूर्ति गढ़ते समय जो गड्ढा बन गया था, उसका नाम उत्तरमानस (उत्तरार्ककुण्ड) पड़ा। वही कालान्तर में भगवान् शिव से माता पार्वती की यह प्रार्थना करने पर कि '**वर्करीकुण्डमित्याख्या त्वर्ककुण्डस्य जायताम्।**' (-स्कन्दपु., काशीखण्ड 47।56) अर्थात् 'अर्ककुण्ड' (उत्तरार्ककुण्ड) का नाम वर्करीकुण्ड हो जाए, वही कुण्ड वर्करीकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान में उसी का विकृत रूप 'बकरियाकुण्ड' है। यह अलईपुरा के समीप है। उत्तर रूप में दी गयी शिला से मूर्ति बनने के कारण उनका उत्तरार्क नाम पड़ा। उत्तरार्क का माहात्म्य बड़ा ही अद्भुत और विलक्षण है। पहले पौष मास के रविवारों को वहाँ बड़ा मेला लगता था, किंतु सम्प्रति वह मूर्ति भी लुप्त है।

उत्तरार्कस्य माहात्म्यं शृणुयाच्छ्रद्धयान्वितः।
... ...
लभते वाञ्छितां सिद्धिमुत्तरार्कप्रसादतः।

(आदित्यपु., रविवारव्रतकथा 36-38)

(3) **साम्बादित्य की कथा-** किसी समय देवर्षि नारद जी भगवान् कृष्ण के दर्शनार्थ द्वारकापुरी पधारे। उन्हें देख कर सब यादव कुमारों ने अभ्युत्थान एवं प्रणाम कर उनका सम्मान किया; किंतु साम्ब ने अपने अत्यन्त सौंदर्य के गर्व से न अभ्युत्थान किया और न प्रणाम ही;

प्रत्युत उनकी वेषभूषा और रूप पर हँस दिया। साम्ब का यह अविनय देवर्षि को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने इसका थोड़ा-सा इंगित भगवान् के समक्ष कर दिया।

दूसरी बार जब नारद जी आये, तब भगवान् श्रीकृष्ण अंतःपुर में गोपी मण्डल के मध्य बैठे थे। नारद ने बाहर खेल रहे साम्ब से कहा- 'वत्स! भगवान् कृष्ण को मेरे आगमन की सूचना दे दो।' साम्ब ने सोचा, एक बार मेरे प्रणाम न करने से ये खिन्न हुए थे। यदि आज भी उनका कहना न मानूँ तो और भी अधिक खिन्न होंगे; सम्भवतः शाप दे डालें। उधर पिताजी एकांत में मातृमण्डल के मध्य स्थित हैं। अनुपयुक्त स्थान पर जाने से वे भी अप्रसन्न हो सकते हैं। क्या करूँ, जाऊँ या न जाऊँ? मुनि के क्रोध से पिताजी का क्रोध कहीं अच्छा है-यह सोचकर वे अंतःपुर में चले गये। दूर से ही पिताजी को प्रणाम कर नारद के आगमन की सूचना उन्हें दी। साम्ब के पीछे-ही-पीछे नारद जी भी वहाँ चले गए। उन्हें देखकर सबने अपने वस्त्र सँभाले।

नारद ने गोपी जनों में कुछ विकृति ताड़कर भगवान् से कहा- 'भगवन्! साम्ब के अतुल सौंदर्य से ही इनमें कुछ चांचल्य का आविर्भाव हुआ प्रतीत होता है।' यद्यपि साम्ब सभी गोपीजनों को माता जाम्बवती के तुल्य ही देखते थे, तथापि दुर्भाग्यवश भगवान् ने साम्ब को बुलाकर यह कहते हुए शाप दे दिया कि एक तो तुम अनवसर में मेरे निकट चले आए, दूसरा यह कि ये सब तुम्हारा सौंदर्य देखकर चंचल हुई हैं, इसलिए तुम कुष्ठरोग से आक्रांत हो जाओ।

घृणित रोग के भय से साम्ब काँप गये और भगवान् के समक्ष मुक्ति के लिए बहुत अनुनय-विनय करने लगे। तब श्रीकृष्ण ने भी पुत्र को निर्दोष जानकर दूदैववश प्राप्त रोग की विमुक्ति के लिए उन्हें काशी जाने का आदेश दिया। तदनुसार सांब ने भी काशी जाकर विश्वनाथ जी के पश्चिम की ओर कुंड बनाकर उसके तट पर सूर्यमूर्ति की स्थापना की एवं भक्तिभाव सहित सूर्याराधना से रोग-विमुक्त हुए।

तभी से सब व्याधियों को हरनेवाले साम्बादित्य सकल सम्पत्तियाँ भी प्रदान करते हैं। इनका मंदिर सूर्यकुण्ड मुहल्ले में कुण्ड के तट पर है। साम्बादित्य का माहात्म्य भी बड़ा चमत्कारी है।

साम्बादित्यस्तदारभ्य सर्वव्याधिहरो रविः।
ददाति सर्वभक्तेभ्योऽनामयाः सर्वसम्पदः।।

(-स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 48/47)

(4) **द्रौपदादित्य की कथा**-प्राचीन काल में जगत्-कल्याणकारी भगवान् पंचवक्त्र शिवाजी ही पाँच पाण्डवों के रूप में प्रादुर्भूत हुए एवं जगज्जननी उमा द्रौपदी के रूप में यज्ञकुण्ड से उद्भूत हुईं। भगवान् नारायण उनके सहायार्थ श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुए।

महाबलशाली पाण्डव किसी समय अपने चचेरे भाई दुर्योधन की दुष्टता से बड़ी विपत्ति में पड़ गए। उन्हें राज्य त्यागकर वनों की धूलि फाँकनी पड़ी। अपने पतियों के इस दारुण क्लेश से दुःखी द्रौपदी ने भगवान् सूर्य की मनोयोग से आराधना की। द्रौपदी की इस आराधना से सूर्य ने उसे कलछुल तथा ढक्कन के साथ एक बटलोई दी और कहा कि जब तक तुम भोजन नहीं करोगी, तब तक जितने भी भोजनार्थी आयेंगे वे सब-के-सब इस बटलोई के अन्न से तृप्त हो जाएँगे। यह सरस व्यंजनों की निधान है एवं इच्छानुसारी खाद्यों की भंडार है। तुम्हारे भोजन कर चुकने के बाद यह खाली हो जाएगी।

इस प्रकार का वरदान काशी में सूर्य से द्रौपदी को प्राप्त हुआ। दूसरा वरदान द्रौपदी को सूर्य ने यह दिया कि विश्वनाथ जी के दक्षिण भाग में तुम्हारे सम्मुख स्थित मेरी प्रतिमा की जो लोग पूजा करेंगे उन्हें क्षुधा-पीड़ा कभी नहीं होगी। द्रौपदादित्य जी विश्वनाथ जी के समीप अक्षय-वट के नीचे स्थित हैं। द्रौपदादित्य के संबंध में काशीखण्ड में बहुत माहात्म्य है। उसी की यह एक बानगी है-

आदित्यकथामेतां द्रौपद्याराधितस्य वै।
यः श्रोष्यति नरो भक्त्या तस्यैनः क्षयमेष्यति।।

(-स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 49/24)

(5) **मयूखादित्य कथा-** प्राचीन काल में पंचगंगा के निकट 'गभस्तीश्वर' शिवलिंग एवं भक्तमंगलकारिणी मंगला गौरी की स्थापना कर उनकी आराधना करते हुए सूर्य ने हज़ारों वर्ष तक कठोर तपस्या की। सूर्य स्वरूपतः त्रैलोक्य को तप्त करने में समर्थ हैं। तीव्रतम तपस्या से वे और भी अत्यन्त प्रदीप्त हो उठे। त्रैलोक्य को जलाने में समर्थ सूर्य-किरणों से आकाश और पृथ्वी का अंतराल भभक उठा। वैमानिकों ने तीव्रतम सूर्य-तेज में फतिंगा बनने के भय से आकाश में गमनागमन त्याग दिया। सूर्य के ऊपर, नीचे, तिरछे-सब ओर किरणें ही दिखायी देती थीं। उनके प्रखरतम तेज से सारा संसार काँप उठा। सूर्य इस जगत् की आत्मा हैं, ऐसा भगवती श्रुति का उद्घोष है। वे ही यदि इसे जला डालने को प्रस्तुत हो गये तो कौन इसकी रक्षा कर सकता है? सूर्य जगदात्मा हैं, जगच्चक्षु हैं। रात्रि में मृतप्राय जगत् को वे ही नित्य प्रातःकाल में प्रबुद्ध करते हैं। वे जगत् के सकल व्यापारों के संचालक हैं। वे ही यदि सर्वविनाशक बन गये तो किसकी शरण ली जाए? इस प्रकार जगत् को व्याकुल देखकर जगत् के परित्राता भगवान् विश्वेश्वर वर देने के लिए सूर्य के निकट गए। सूर्य भगवान् अत्यन्त निश्चल एवं समाधि में इस प्रकार निमग्न थे कि उन्हें अपनी आत्मा की भी सुधि नहीं थी। उनकी ऐसी स्थिति देखकर भगवान् शिव को उनकी तपस्या के प्रति महान् आश्चर्य हुआ। तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने सूर्य को पुकारा, पर वे काष्ठवत् निश्चेष्ट रहे। जब भगवान् ने अपने अमृत-वर्षी हाथों से सूर्य का स्पर्श किया तब उस दिव्य स्पर्श से सूर्य ने अपनी आँखें खोलीं और उन्हें दण्डवत्-प्रणाम कर उनकी स्तुति की।

भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर कहा-'सूर्य! उठो, सब भक्तों के क्लेश को दूर करो। तुम मेरे स्वरूप ही हो। तुमने मेरा और गौरी का जो स्तवन किया है, इन दोनों स्तवनों का पाठ करनेवालों को सब प्रकार की सुख-संपदा, पुत्र-पौत्रादि की वृद्धि, शरीरारोग्य आदि प्राप्त होंगे एवं प्रिय-वियोगजनित दुःख कदापि नहीं होंगे। तुम्हारे तपस्या करते समय तुम्हारे मयूख (किरणें) ही दृष्टिगोचर हुए, शरीर नहीं, इसलिए तुम्हारा

नाम मयूखादित्य होगा। तुम ारा पूजन करने से मनुष्यों को कोई व्याधि नहीं होगी। रविवार के दिन तुम्हारा दर्शन करने से दारिद्र्य सर्वथा मिट जाएगा-'

त्वदर्चनान्नृणां कश्चिन्न व्याधिः प्रभविष्यति।
भविष्यति न दारिद्र्यं रविवारे त्वदीक्षणात्।।

(-स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 49।94)

मयूखादित्य मंदिर मंगलागौरी में है।

(6) **खखोल्कादित्य-** दक्ष प्रजापति की पुत्रियाँ कद्रू और विनता मुनिवर कश्यप की पत्नियाँ थीं। एक समय खेल-खेल में कद्रू ने आग्रहपूर्वक विनता से कहा-'बहन! आकाश में तुम्हारी अकुंठ गति है, इसलिए शर्त लगाकर यह बतलाओ कि सूर्य के रथ का उच्चैःश्रवा नामक अश्व का रंग सफेद है या चितकबरा? विनता ने उत्तर दिया- 'सफेद है।'

कद्रू ने अपने पुत्रों से कहा-'बच्चों! तुम सब बाल के समान महीन रूप बनाकर उच्चैःश्रवा की पूँछ में लिपट जाओ, जिससे उसके रोएँ तुम्हारी विषैली साँसों से श्याम रंग के हो जाएँ।' माता शाप न दे- इस भय से बचने के लिए कुछ ने उसकी यह खोटी बात मान ली।

विनता की पीठ पर बैठकर कद्रू ने आकाशमार्ग को लाँघकर सूर्य-मंडल को देखा। तेज किरणों के ताप के कारण वह व्याकुल हो गयी। आकाशमार्ग में आगे उड़ रही विनता से कद्रू ने कहा-'बहन विनते! मेरी रक्षा करो। सखि! यह अग्निपिंड गिरता है'-'**सखि उल्का पतेदेषा**' कहने की जगह घबराहट में उसने '**खखोल्का निपतेदेषा**' कह डाला। विनता ने खखोल्क नाम के अर्क की स्तुति की। उससे सूर्यताप कुछ कम होने पर आकशमार्ग से सूर्य के गुजरने पर उन्होंने उच्चैःश्रवा को कुछ चितकबरा देखा। कद्रू की सूर्यताप के प्रभाव से नेत्रज्योति बेकार हो गयी थी। सत्यवादिनी विनता ने क्रूरा कद्रू से कहा- 'बहन! तुम्हारी जीत हुई। चंद्र-किरणों के तुल्य प्रभाव वाला यह कर्बुरित-सा (चितकबरा-सा) मालूम पड़ता है।' यथार्थ बात कहती हुई

विनता कद्रू के घर गयी। शर्त के अनुसार उसने कद्रू की दासता स्वीकार कर ली। कद्रू दुष्ट स्वभाव की थी। वह विनता को बहुत परेशान करती थी। स्वयं उस पर सवार होकर इधर-उधर सैर करती और अपने बच्चों को भी उस पर सवार कराकर दूर-दूर तक सैर कराती थी।

एक दिन गरुड़ ने दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई मलिनमुख और अत्यन्त उदास विनता की आँखों में आँसू देखे। गरुड़ ने कहा-'माँ! तुम प्रतिदिन सबेरे-सबेरे कहाँ जाती हो और शाम को थकी-माँदी कहाँ से आती हो? आँखों में आँसू भरकर क्यों सिसकती हो? माँ! जल्दी कहो। काल को भी भयभीत करनेवाले मुझ-जैसे तुम्हारे बच्चे के जीवित रहते तुम क्यों दुःखी हो?'

पुत्र की ऐसी मार्मिक वाणी सुनकर विनता ने कद्रू द्वारा की जाती हुई परेशानी और उसकी दासी होने का अपना सारा वृत्तांत गरुड़ को सुना दिया। उक्त वृत्तांत को सुनकर गरुड़ ने कहा-'माँ! तुम उन दुष्टों के पास जाकर कहो-जो अत्यन्त दुर्लभ हो और जिसमें तुम्हें अत्यन्त अभिरुचि हो वह वस्तु दासीत्व से छुटकारे के लिए माँगो, वह मैं तुम्हें देती हूँ।' विनता ने जाकर सर्पों से उक्त बात कही। सर्प उसे सुनकर बड़े खुश हुए। उन्होंने आपस में विचार कर विनता से कहा-'माता के शाप से विमुक्ति के लिए यदि हमें अमृत दोगी तो तुम्हारी इच्छा पूरी होगी, अन्यथा तुम दासी हो ही।' विनता ने सर्पों की माँग स्वीकार कर ली और कद्रू के पास गयी; उससे विदा लेकर वह शीघ्र गरुड़ के निकट आयी। गरुड़ को प्रसन्नचित्त देखकर उससे सारा हाल कहा। गरुड़ ने कहा-'माँ! चिंता मत करो, अमृत को लाया हुआ ही जानो।'

अमृत स्वर्ग में बड़े कड़े पहरे में रखा हुआ था। गरुड़ ने पहरेदारों को अपने परों की वायु से सूखे पत्तों की तरह अत्यन्त दूर फेंक दिया। फिर शिवजी की स्तुति से प्राप्त हुई अपनी सूझ-बूझ से कठिनाई के साथ अमृत प्राप्त कर लिया। अमृतकलश लेकर वे वहाँ से निकले। शोर मचाते हुए देवताओं ने भगवान विष्णु से इस घटना का निवेदन किया। भगवान ने त्वरा के साथ गरुड़ का पीछा किया। दोनों में

खूब युद्ध हुआ। गरुड़ की बलवत्ता से भगवान बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा-'वीर! सर्पों को अमृत दिखाकर माता को दासता से छुड़ा लो। सर्पों के साथ ऐसा कौशल करो जिससे वे शीघ्र सुधा-पान न कर सकें एवं अमृत देवताओं को मिल जाए।' 'तथास्तु' कहकर गरुड़ वहाँ से निकले। उन्होंने माँ को दासता से मुक्त कर सर्पों के सामने अमृत-कमण्डलु रख दिया। वे जब अमृतपान के लिए प्रस्तुत हुए तब गरुड़ ने कहा-'सर्पवृन्द! इस पवित्र सुधा का पान पवित्र होकर करना चाहिए। यदि स्नान किए बिना इसका स्पर्श करोगे तो देवताओं द्वारा सुरक्षित यह सुधा गायब हो जाएगी।'

वे सब सर्प अपनी माता के साथ स्नान करने के लिए गए और इधर भगवान विष्णु ने अमृत-कलश देवताओं दे दिया।

दासता से मुक्त हुई विनता ने गरुड़ से कहा-'वत्स! मैं दासता रूपी पाप की निवृत्ति के लिए पापराशि-विनाशिनी काशी जाऊँगी; इसलिए कि प्राणियों में तभी तक नाना जन्मों के अर्जित पाप बलिष्ठ रहते हैं, जब तक काशी का स्मरण और दर्शन नहीं किया जाता।' माँ का कथन सुनकर गरुड़ ने भी नमस्कारपूर्वक माँ से कहा-'माँ! मैं भी शिवार्चित काशी के दर्शनार्थ तुम्हारे साथ चलूँगा।'

दोनों क्षण भर में मोक्षदायिनी काशी पहुँचे। दोनों ने कठोर तपस्या की। विनता ने 'खखोल्क' नामक आदित्य की स्थापना की और गरुड़ ने शाम्भवलिंग की स्थापना की। उन दोनों की उग्र तथा श्रद्धाभक्तियुक्त तपस्या से शंकर और भास्कर दोनों प्रसन्न हो गये।

शिवजी की ही अन्यमूर्ति-रूप खखोल्क नामक भास्कर की तपस्या करती हुई विनता को देखकर शिव ने ज्ञानपूर्ण पापसंहारी वर प्रदान किया। काशीवासीजनों के अनेक जन्मों के पापों का क्षय करनेवाले 'विनतादित्य', 'खखोल्क' नाम से काशी में विराजमान हैं। वे काशीवासी जनों के विघ्नांधकार को दूर करनेवाले हैं। उनके दर्शनमात्र से मनुष्य सकल पापों से मुक्त हो जाता है। खखोल्कादित्य पाटन दरवाजा मुहल्ले

में कामेश्वर मंदिर के द्वार पर है। खखोल्कादित्य के दर्शन करने से मनुष्यों के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं एवं रोगी निरोग हो जाता है

काश्यां पैशिगिले तीर्थे खखोल्कस्य विलोकनात्।
नरश्चिन्तितमाप्नोति नीरोगो जायते क्षणात्।।

(7) **अरुणादित्य:** विनता अपनी सपत्नी (सौत) के गोद में बच्चे खेलाते देख स्वयं भी बच्चे को गोद में खेलाने की अभिलाषा न त्याग सकी; अतः जो अंडा अभी सेवा जा रहा था जिसमें अरुण पूरा नहीं हुई थी, उसे उसने फोड़ दिया। विकलांग शिशु ऊरु (जंघा) रहित होने से 'अनुरु' एवं अवधि से पूर्व ही अंडा फोड़ देने से मां के प्रति क्रोधवश अरुण (लाल) होने से 'अरुण' कहलाया। अरुण ने काशी में तपस्या करते हुए सूर्य की आराधना की। सूर्य ने उस पर प्रसन्न हो उसे अनेक वर दिये एवं उसके नाम से स्वयं सूर्य 'अरुणादित्य' हुए।

सूर्य ने कहा-'हे अनूरो! तुम त्रैलोक्य के हितार्थ मेरे रथ पर सदा स्थित रहो एवं मुझसे पहले अंधकार का विनाश करो। जो मनुष्य वाराणसी में विश्वेश्वर के उत्तर तुम्हारे द्वारा स्थापित अरुणादित्य नामक मेरी मूर्ति का अर्चन-पूजन करेंगे, उन्हें न तो दुःख होगा, न दरिद्रता होगी और न पातक लगेगा। वे न विविध प्रकार की व्याधियों से आक्रांत होंगे और न नाना प्रकार के उपद्रवों से पीड़ित होंगे। अरुणादित्य पाटन दरवाजा मुहल्ले में त्रिलोचन-मंदिर में स्थित है। अरुणादित्य के सेवकों को शोकाग्निजनित दाह भी कदापि नहीं होगा'-

येऽर्चयिष्यन्ति सततमरुणादित्यसंज्ञकम्।
मामत्र तेषां तो दुखं न दारिद्र्यं न पातकम्।।

(8) **वृद्धादित्य:** काशी में प्राचीन काल में वृद्धहारीत नाम के एक महातपस्वी रहते थे। उन्होंने विशालाक्षी देवी के दक्षिण ओर मीरघाट पर महातप की समृद्धि के लिए सूर्यनारायण की एक सुंदर मूर्ति स्थापित

की और उनकी आराधना की। उन्होंने अपनी अतुल भक्तिपूर्व आराधना से प्रसन्न हुए सूर्य से वर माँगा-'भगवन्! वृद्ध पुरुष में तप करने की शक्ति नहीं रहती। यदि मुझे आपके अनुग्रह से फिर तारुण्य प्राप्त हो जाए तो मैं उत्तर तप कर सकूँगा।' मनुष्य की सर्वविध अभ्युन्नति के लिए तप ही परम साधन है। वृद्धहारीत के तप से प्रसन्न हो कर भगवान् सूर्य ने वृद्ध तपस्वी की वृद्धावस्था तत्क्षण मिटाकर उन्हें यौवन प्रदान कर दिया। यौवन प्राप्त कर हारत ने महान् उग्र तप किया। वृद्धादित्य के भक्तिभावपूर्ण अर्चन-पूजन से वार्धक्य, दरिद्रता एवं विविध रोगों से मुक्ति पाकर बहुतों ने सिद्धि पायी है।

वृद्धादित्यं समाराध्य वाराणस्यां घटोद्भव।
जरादुर्गतिरोगघ्नं बहवः सिद्धिमागताः।।

(9) **केशवादित्यः** किसी समय आकाश में संचरण कर रहे सूर्यनारायण ने भगवान् आदिकेशव को बड़े श्रद्धाभाव से शिवलिंग का पूजन करते देखा। वे महान् आश्चर्य से चकित हो आकाश से उतरकर भगवान् केशव के निकट अवसर की प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप बैठ गये। भगवान् केशव द्वारा की जा रही शिवपूजा समाप्त होने पर सूर्य ने उन्हें सभक्ति प्रणाम किया। भगवान् ने भी उनका उचित स्वागत-सत्कार कर पास में बैठा लिया। अवसर पाकर सूर्य ने पूछा-'भगवन्! आपसे ही यह जगत् उत्पन्न होता है और आप में ही लीन हो जाता है। आपका भी कोई पूज्य है-यह जानकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।'

भगवान् केशव ने कहा-'भास्कर! सब कारणों के भी कारण देवाधिदेव महादेव उमापति ही एकमात्र पूज्य हैं। जो त्रिलोचन के सिवा अन्य की पूजा करता है, वह आँखवाला होने पर भी अंधा है। जिन लोगों ने एक बार भी पार्वतीपति के लिंग की पूजा की, उन्हें विविध दुःखों से भरे संसार में भी दुःख नहीं होगा।'

न लिंगाराधनात् पुण्यं त्रिषु लोकेषु चापरम्।
सर्वतीर्थाभिषेकः स्याल्लिंगस्नानाम्बुसेवनात्।।

अर्थात् 'शिवलिंग की आराधना से बढ़कर तीनों लोकों में दूसरा पुण्य नहीं है एवं शिवलिंग के स्नान के जल के सेवन से सब तीर्थों में स्नान का पुण्य प्राप्त हो जाता है।'

भगवान् विष्णु के मुख से शिवजी का ऐसा अद्‌भुत माहात्म्य सुनकर वे बोले-हे सूर्य! तुम भी विपुल तेज को बढ़ानेवाली परम लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए शिवलिंग की पूजा करो। भगवान का उपदेश सुनकर सूर्य स्फटिक का लिंग बनाकर उसकी पूजा करने लगे। तभी से सूर्य आदि केशव को अपना गुरु मानकर आदिकेशव के उत्तर में आज भी स्थित हैं।

काशी में भक्तजनों के अज्ञानांधकार का विनाश करनेवाले वे केशवादित्य पूजा-अर्चा करनेवालों को सदा मनोवांछित फल प्रदान करते हैं-

केशवादित्यमाराध्य वाराणस्यां नरोत्तमः।
परमं ज्ञानमाप्नोति येन निर्वाणभाग्भवेत्।।

मतिमान् श्रेष्ठ पुरुष वाराणसी में 'केशवादित्य' की आराधना कर परमज्ञान प्राप्त करते हैं, जिससे उन्हें निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त होता है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक केशवादित्य के माहात्म्य के श्रवणसे मनुष्य को पाप स्पर्श नहीं करते और शिवभक्ति प्राप्त होती है।

(10) **विमलादित्यः** विमल नाम का एक क्षत्रिय था। वह बड़ा सत्कार्यकारी होने पर भी प्राक्तन कर्मवश कुष्ठरोग से आक्रांत हो गया। वह घर-द्वार, पुत्र-कलत्र, धन-दौलत सबका परित्याग कर काशी आया। उसने हरिकेशवन (जंगमवाड़ी) में हरिकेशेश्वर के निकट सूर्यमूर्ति स्थापित कर परम भक्ति-श्रद्धापूर्वक सूर्य की आराधना की। वह कनैर,

अड़हुल, सुंदर किंशुक, लाल कमल, शोक, सुगंधपूर्ण गुलाब और चम्पा के पुष्पों, चित्र-विचित्र मालाओं, कुंकुम, अगुरु और कर्पूरमिश्रित लाल चंदन, सुगंधित धूपों, कपूर और बत्तियों की आरार्ति, विविध प्रकार सुमिष्ट नैवेद्यों, भाँति-भाँति के फलों, अर्घ्य प्रदान एवं सूर्य-स्तोत्रों द्वारा सूर्य की पूजा करता था। इस प्रकार निरंतर आराधना करने से उस पर भगवान सूर्य प्रसन्न हुए। उन्होंने वर माँगने को कहा एवं यह भी कहा कि तुम्हारा कुष्ठ रोग तो मिटेगा ही, उसके अतिरिक्त और भी वर माँगो। दण्डवत्-प्रणाम करते हुए विमल ने कहा-'भगवन! यदि आप प्रसन्न हैं और वर देना चाहते हैं तो जो लोग आपके भक्ति निष्ठ हों, उनके कुल में कुष्ठ तथा अन्यान्य रोग भी न हों; उन्हें दरिद्रता भी न सतावें; आपके भक्तों को किसी प्रकार का दुःख न हो, यही वर दें।'

विमल के उक्त वरों को सुनते हुए सूर्य ने 'तथास्तु' कहकर आगे कहा-'विमल! तुमने काशी में जो यह मेरी मूर्ति स्थापित की है, इसकी सन्निधि का मैं कभी त्याग नहीं करूँगा एवं यह मूर्ति तुम्हारे नाम से प्रख्यात होगी। सब व्याधियों को दूर करनेवाली तथा सकल पापों का विध्वंस करनेवाली विमलादित्य नामक यह प्रतिमा भक्तों को सदा वर प्रदान करेगी।'

इत्थं स विमलादित्यो वाराणस्यां शुभप्रदः।
तस्य दर्शनमात्रेण कुष्ठरोगः प्रणश्यति।।

इस प्रकार शुभप्रद (मंगलकारी) विमलादित्य काशी में विराजमान हैं। उनके दर्शन मात्र से कुष्ठरोग मिट जाता है।

(11) **गंगादित्यः** गंगादित्य वाराणसी में ललिता घाट पर विराजते हैं। उनके केवल दर्शनों से मनुष्य शुद्ध हो जाता है। भगीरथ के रथ का अनुसरण करती हुई भगीरथी जब यहाँ (काशी में) पधारीं, तो रवि ने वहीं पर स्थित गंगा की स्तुति की। आज भी वह गंगा को सम्मुख कर रात-दिन उनकी स्तुति करते हैं। गंगादित्य की आराधना करनेवाले

नर श्रेष्ठों की न दुर्गति होती है और न वे रोगाक्रांत ही होते हैं। इनका दर्शन पुण्यप्रद है।

(12) **यमादित्य:** यमेश्वर से पश्चिम और आत्म वीरेश्वर से पूर्व संकटा-घाट पर स्थित यमादित्य के दर्शन करने से मनुष्यों को यमलोक नहीं देखना पड़ता। भौमवारी चतुर्दशी को यमतीर्थ में स्नान कर यमेश्वर और यमादित्य के दर्शन कर मानव सब पापों से छुटकारा पा जाते हैं। प्राचीनकाल में यमराज ने यमतीर्थ में कठोर तपस्या कर भक्तों को सिद्धि प्रदान करनेवाले यमेश्वर और यमादित्य की स्थापना की थी। यमराज द्वारा स्थापित यमेश्वर और यमादित्य को प्रणाम करनेवाले एवं यमतीर्थ में स्नान करनेवाले पुरुषों को यामी (नारकीय) यातनाओं का भोगना तो दूर, यमलोक को देखना तक नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त यमतीर्थ में श्राद्ध कर, यमेश्वर का पूजन कर एवं यमादित्य को प्रणाम कर मनुष्य पितृऋण से भी उऋण हो जाता है-

श्राद्धं कृत्वा यमे तीर्थे पूजयित्वा यमेश्वरम्।
यमादित्यं नमस्कृत्य पितृणामनृणो भवेत्।।

ये बारह आदित्य पाप-राशिविनाशी हैं। इनके दर्शन-पूजन आदि से मनुष्यों के यामी यातनाएँ नहीं होती हैं। इनके अतिरिक्त काशी में गुह्यकार्क आदि और भी अनेक आदित्य हैं। सबकी पूजा-अर्चा लाभप्रद है। इनकी पूजा-अर्चा प्रत्येक नर-नारी को करनी चाहिए।

बारह आदित्यों के आविर्भाव की संसूचक कथा को सुनने अथवा दूसरों को सुनाने वाले मनुष्यों के पास दुर्गति कदापि नहीं आ सकती।

।।चौपाई।।

आगील अर्थ प्रभु टेक सुनावा। सुनि गिरिजा के मन अतिभावा।।
मगन भई सुनि सिव की भानी। हरषित सूरज गुण करहि भवानी।।
तीन भुवन जिह नावै माथा। सो प्रभु रहि अनाथन के नाथा।।

जो इह कथा पड़े मन लाई। धर्म पाप च्छै जाई।।

इस प्रकार उमा को आनंदित करते हुए शिव जी सूरज-देव के गुणगान करने लगे। जिस प्रभु के सामने त्रिभुवन वासी अपने मस्तक नवाते; जो अनाथों के नाथ थे, उनकी कथा सुनकर गिरिजा आनंद से मग्न हो गई। इस प्रकार जो भी इस कथा को मन लगाकर पढ़े व सूर्य-भगवान का व्रत ध्यान से करें उनके पापों का क्षय हो जाता है।

सूर्य देव के व्रत व नियमादि के बारे में चंद्रदत्त त्रिपाठी सविस्तार बताते हैं- भगवान् सूर्य के व्रत का सामान्य नियम प्रायः जो सर्वत्र प्रचलित है, निम्न प्रकार है-

1) सूर्य का व्रत रविवार को करना चाहिए।
2) व्रत के दिन लवण (नमक) सर्वथा वर्जित है।
3) दिन में ही बिना नमक के एक बार भोजन करना चाहिए। प्रायः मिष्टान्न भोजन का प्रचलन है।
4) एक अन्न ग्रहण करना चाहिए। अन्न सात्विक हो।
5) रात्रि में जल का भी ग्रहण वर्जित है।
6) सामान्यतः अन्न का ग्रहण न कर फलाहार का उपयोग किया जाना उत्तम है।
7) संकटापन्न परिस्थिति में निर्जल रूप में व्रत किया जाता है। व्रत में संयम का महत्व है।

इस प्रकार उक्त नियमों को दृष्टि में रखते हुए अपनी परिस्थिति और शारीरिक शक्ति का ध्यान रखते हुए संयम होकर सभी लोगों को भगवान सूर्य का व्रत करना चाहिए। साथ ही 'आदित्यहृदय' स्तोत्र का प्रतिदिन अथवा रविवार के दिन तो अवश्य ही स्नानादि से निवृत्त होकर पाठ करना चाहिए। इस व्रत से मनुष्य रोगरहित तथा दीर्घजीवी होता है। सभी प्रकार के रक्तविकार-संबंधी रोग-फोड़ा, फुंसी, दाद, खाज, कुष्ठ आदि दूर होते हैं। इस व्रत से रोगों का उन्मूलन ही नहीं, अपितु मनुष्य के शत्रुओं का भी नाश होता है। आदित्यहृदय के निम्नांकित श्लोक में

भगवान सूर्य को शत्रुघ्न कहा गया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि वे शत्रुओं का भी नाश करते हैं-

तमोऽघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने।
कृतघ्नाघ्नाय देवाय ज्योतिषां पतये नमः।।

(-वा.रा.युद्ध.105।20)

अर्थात् अंधकार, शीत, शत्रु एवं कृतघ्न के नाशक, विशाल आत्मावाले और ज्योतियों के पति-अर्थात् प्रकाशाधीश्वर देव के लिए नमस्कार है। इस संबंध में यह भी कहा गया है कि रावण के साथ युद्ध करते हुए भगवान राम को देवताओं ने उपदेश दिया और कहा कि श्रीराम! आप संपूर्ण शत्रुओं का नाश करनेवाले भगवान सूर्य की पूजा, जप, आदित्यहृदय का पाठ और उन्हीं का ध्यान करें। ये ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, प्रजापति हैं। ये ही सर्वशोकनिवारक एवं समग्र चिंताविनाशक हैं। सूर्यनारायण की पूजा करने से आप शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेंगे। भगवान राम ने उस उपदेश को ग्रहण किया और वैसा ही आचरण किया। फल जो हुआ सभी जानते हैं कि श्रीरामचंद्र विजयी हुए। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान सूर्य की पूजा, उनका व्रत रोगों के साथ-ही-साथ शत्रुओं का भी नाश करता है। इसलिए सभी को यह व्रत करना चाहिए।

यह बात अवश्य है कि कुछ दिनों तक व्रत के दूसरे दिन कुछ दुर्बलता प्रतीत होती है अथवा कुछ लोगों को लवणहीन भोजन स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होता है। कुछ लोग दो-चार बार व्रत करने के पश्चात उसे छोड़ देते हैं। परंतु यह उचित नहीं है। अच्छे कार्यों में कठिनाइयों का उपस्थित होना स्वाभाविक होता है। विघ्नबाधाओं के आने पर भी आरंभ किया गया व्रत चालू रखना चाहिए। इस व्रत का फल व्रत करनेवाले को अवश्य मिलता है। यह शतशोऽनुभूत एवं प्रत्यक्षतः दृष्ट है। लेखक स्वयं इस व्रत को सन् 37 से करता चला आ रहा है। यह प्रथम रविवार-व्रत दोनों समय, बिना नमक के भोजन करते रहे। फिर तीन रविवार निर्जल व्रत रहे। पश्चात अधिक दिनों तक एकान्न एक बार दिन में ही

लेते रहे। अब यह क्रम है कि दिन में रविवार के दिन केवल फलाहार ही ग्रहण करते हैं और इसका इसे बहुत बड़ा लाभ है। सभी देवी-देवता हैं, पर भगवान सूर्य साक्षात देव हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में सूर्य की किरणों का बहुत ही आश्रय लिया जाता है। कुष्ठादि रोगों के कारणों में पापकर्म भी कारण गिनाया गया है। कुष्ठरोग की निवृत्ति के लिए सूर्यव्रत, गंगास्नान आदि चिकित्सा-विधान है। कुष्ठरोग रक्तदोष से होता है। रक्तदोष में भगवान सूर्य का व्रत और लवणपरिवर्जन बहुत ही लाभप्रद होता है। सूर्य-पूजन और सूर्य-व्रत की शास्त्रकारों ने बड़ी महिमा गायी है। सूर्य का दिवस रविवार ही है। अतः सूर्यसंबंधित व्रत, पूजन आदि सब रविवार को ही किया जाना चाहिए। रविवारसर और सूर्य का बहुत बड़ा संबंध है।

।।दोहा।।
जो इह कथा मन लाय कै टेक धरि व्रत ध्यान
जो इच्छा करे पठेतेम पूर्व ही श्री भगवान।।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे कलंकी अवतार
वरननाम त्रयोदशोध्यायः।।

जो मनुष्य श्री सूर्य देव की कथा को दत्त-चित्त होकर सुनता है व उनका व्रत नियम पूर्वक करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सूरज महापुराण महात्म्य के **कल्की अवतार** का वर्णन करते हुए **त्रयोदश अध्याय** की समाप्ति हुई।

व्रत महात्म्य

अंतिम अध्याय में व्रत-महात्म्य व आदित्य व्रत के बारे में उल्लेख है। कल्याण (वर्ष 53, मार्च 1979 के संख्या 3) में इसका सविस्तार वर्णन हुआ है जो यहाँ उद्धृत है।

मार्गशीर्षीय (क) दशादित्य-व्रत (स्कंदपुराण)-

भगवान सूर्य का यह उत्तम व्रत है। यद्यपि किसी भी महीने के शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि के अवसर रविवार हो तो इसे किया जा सकता है; किंतु मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की दशमी तिथि हो और उस शुभ समय में रविवार पड़ जाए तो इस व्रत का महत्व अधिक माना गया है। उस दिन व्रत करनेवाले मनुष्य को चाहिए कि प्रातःकाल नदी, तालाब अथवा झरने-किसी भी खुले स्वच्छ जल में दैनिक स्नान करे। पुनः दोपहर को व्रतीय स्नान के पश्चात देवताओं और पितरों का तर्पण करना आवश्यक है। इसके बाद घर पर आकर शुद्ध मिट्टी से एक वेदी बनाए। उस वेदी पर रोली अथवा गुलाल आदि किसी भी लाल रंग की वस्तु से बारह दलों वाले कमल की आकृति अंकित कर उसके मध्य भाग में सूर्य की सुवर्णनिर्मित प्रतिमा स्थापित करे। पुनः पूजाविधि की पद्धति में बताये हुए मंत्रों द्वारा क्रमशः आवाहन, आसन, प्राणप्रतिष्ठा, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, चंदन, अक्षत, फूल, दूर्वा, धूप, दीप, नैवेद्य, ऋतुफल, आचमन, तांबूल और दक्षिणा आदि अर्पण करके श्रद्धापूर्वक पूजा करे।

इस प्रकार फिर वहीं मिट्टी की दूसरी वेदी बनावे। उस वेदी को गाय के गोबर से पुत दे। फिर किसी काली वस्तु-जैसे, कोयला अथवा काले रंग से रँगे चावल के द्वारा उस वेदी पर दस कोष्ठक का निर्माण करे। इन कोष्ठकों में प्रत्येक पर क्रमशः 1) दुर्मुखी, 2) दीनवदना, 3) मलिना, 4) सत्यनाशिनी, 5) बुद्धिनाशिनी तथा 6) हिंसा, 7) दुष्टा, 8) मिद्धविरोधिनी, 9) उच्चाटनकारिणी तथा 10) दुश्चिन्ताप्रदा-इन दस पुत्तलिकाओं को अंकित करे। फिर नाम-मंत्रों से अर्थात् **'ऊँ दुर्मुख्यै**

नमः' इसी प्रकार सभी नामों के पूर्व '**ॐ**' लगाकर अंत में '**नमः**' का प्रयोग कर उन सभी पुत्तलिकाओं की पाद्य, अर्घ्य आदि सोलह प्रकार के उपचारों से पूजा कर निम्नांकित मंत्र द्वारा प्रार्थना करे-

विशुद्धवसनां देवीं सर्वाभरणभूषिताम्।
ध्यायेद दशदशां देवीं वरदाभयदायिनीम्।।

इस व्रत के अनुष्ठान से मनुष्य की दुर्दशा समाप्त हो जाती है। यह दुर्दशा आती क्यों है और इससे बचने के उपाय क्या हैं। इसे नारद जी ने परमज्ञानी कश्यपजी से पूछा और उन्होंने इसके निवारण के जो उपाय बतलाये, वे इस प्रकार हैं-'तुष (भूसी), भस्म और मूसल का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। कुमारी कन्या, विशेषतया धोबी की स्त्री तथा वृद्धा स्त्री के प्रति अन्यथा भावना कदापि न करे। सायं-प्रातः, किसी पर्व के दिन एवं रजस्वला होने पर स्त्री के संपर्क न करे। अपने स्वामी, माता या पिता यदि किसी कठिन परिस्थिति में पड़े हों तो उनका त्याग न करे। अपनी परंपरा से संबद्ध धर्म, कर्म और सदाचार को न छोड़ें। इन नियमों के विरुद्ध चलने से मनुष्य के सामने दुर्दशा आती है।

यदि कदाचित मनुष्य को ऐसी दुर्दशा आती जाए तो इस दशादित्य-व्रत के प्रभाव से उसका उद्धार हो जाता है। राजा नल और पाण्डवों ने यह व्रत किया था। उसके प्रभाव से उनके मन की अभिलाषा सद्यः पूरी हो गई।

(ख) द्वादशादित्यव्रत (विष्णुधर्मोत्तर)-
पौषमासीय व्रत-मार्तण्ड-सप्तमीव्रत (कृत्यकल्पतरु)

यह व्रत पौषमास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि के दिन होता है। उस दिन मनुष्य व्रत करके भगवान सूर्य की पूजा करे। स्नान आदि की सभी विधियाँ दशादित्यव्रत के समान ही है। लगातार एक वर्ष तक

प्रत्येक मास में शुक्ल पक्ष के सप्तमी के दिन यह व्रत करने से मनुष्य को उत्तम फल प्राप्त होता है।

माघसीय व्रत-(क) मंदार-षष्ठीव्रत (भविष्योत्तरपु.)

यह व्रत माघ मास के शुक्ल पक्ष से आरंभ होता है। इस व्रत में पंचमी, षष्ठी और सप्तमी-इन तीनों दिनों में नियमित रूप से जितेंद्रिय रहना पड़ता है। व्रती व्यक्ति कामना का त्याग कर तथा इंद्रियों पर संयम रखते हुए पंचमी तिथि को एक बार भोजन करे। षष्ठी के दिन प्रातःकाल के नित्य-नियम करने के पश्चात 'मैं आज व्रत करना चाहता हूँ, आप मुझे आज्ञा दें'-इस प्रकार ब्राह्मण से आज्ञा ले। फिर उस दिन पूरा उपवास करे। रात में केवल मंदार का फूल भक्षण करे। सप्तमी तिथि के दिन प्रातःकाल स्नान एवं नित्य-नियम करके ब्राह्मण की पूजा करे। फिर ताँबे के पात्र में काले तिल से आठ दलवाले कमल का चिह्न बनाए। प्रत्येक दल पर एक-एक मंदार का फूल रखने की विधि है। मध्यभाग में सुवर्णनिर्मित भगवान सूर्य की प्रतिमा स्थापित करे। फिर पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान-इन आठों दिशाओं के दलों पर क्रमशः **'ऊँ भास्कराय नमः, ऊँ सूर्याय नमः, ऊँ सूर्याय नमः, ऊँ यज्ञेशाय नमः, ऊँ वसुधाम्ने नमः, ऊँ चण्डाानवे नमः, ऊँ कृष्णाय नमः, ऊँ श्रीकृष्णाय नमः-**'इन नाम-मंत्रों से पूजा करे। पूजा-प्रभृति से निवृत्त होने पर भोजन करना चाहिए। नमक और तेल उस दिन भोजन में निषिद्ध हैं। इसी प्रकार प्रति मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि के दिन यह व्रत करना चाहिए। वर्ष के अंतिम सप्तमी के दिन उद्यापन करने का विधान है। उस दिन एक ताम्रकलश पर सुवर्णनिर्मित सूर्य की प्रतिमा स्थापित करके षोडशोपचार पूजन करे और कलशसहित वह मूर्ति किसी विद्वान ब्राह्मण को अर्पण कर दे। मूर्ति-दान करते समय यह श्लोक पढ़ना चाहिए-

ऊँ नमो मन्दारनाथाय मन्दारभवनाय च।
त्वं रवे तारयस्वास्मानस्मात् संसारसागरात्।।

इस व्रत के प्रभाव से संपूर्ण पाप भस्म हो जाते हैं और व्रती स्वर्ग में स्थान प्राप्त करता है।

(ख) भानु-सप्तमी (बहुसम्मत)

यह व्रत माघ मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि में होता है। प्राणिमात्र की जीवनी-शक्ति को सुरक्षित करनेवाले प्रत्यक्ष ईश्वर ही सूर्यनारायण का रूप धारण करके जगत में प्रकाश फैलाते हैं। इसी सप्तमी के दिन इन्होंने जगत् को प्रकाशित करने का कार्य आरंभ किया था। अतः यह जयंती भी है। इस दिन सूर्य की उपासना के अनेक कृत्य विविध प्रयोजनों के लिए भाँति-भाँति से किए जाते हैं। इसीलिए इसके अर्कसप्तमी, अचलासप्तमी, रथसप्तमी, सूर्यसप्तमी और भानुसप्तमी आदि अनेक नाम हैं। यह अरुणोदयव्यापिनी है। यदि दोनों दिन सप्तमी अरुणोदय-व्यापिनी हो तो पहले दिन की सप्तमी में व्रत करना चाहिए।

स्नान करने के पूर्व तिल के तेल से एक दीपक जलावे। कुसुम के रंग से रँगे हुए वस्त्र की बत्ती बनावे। मदार और बेर के पत्ते पर उस प्रज्वलित दीपक को अपने सिर पर रखकर भगवान सूर्य का ध्यान करे। फिर गन्ने के डंडे से जल को हिलाकर उस दीपक को धारा में बहा दे। दिवोदास की यह सम्मति है कि दीपक का प्रयोग न कर आक के पत्ते को सिर पर रखकर ईंख से जल को हिलाये और **'नमस्ते रुद्ररूपाय रसानां पतये नमः। वरुणाय नमस्तेऽस्तु'**-पढ़कर उसे बहा दे। इसके पश्चात्-

'यद्यज्जन्मकृतं पापं यच्च जन्मान्तरार्जितम्।
मनोवाक्कायजं यच्च ज्ञाताज्ञाते च ये पुनः।।
इति सप्तविधं पापं स्नानान्ते सप्तसप्तिके।

सप्तव्याधिसमाकीर्णं हर भास्करि सप्तमि।।'

-इसका पाठ करे। हाथ में जल लेकर भावनापूर्वक केशव तथा सूर्य का दर्शन करके उस पादोदक स्वरूप जल को अन्य जल में अथवा नदी एवं तालाब में डालकर स्नान करे। ऐसा करने से क्षण भर में पाप दूर हो जाते हैं। स्नान करने के बाद एक ताँबे के पात्र में अर्घ्य की सामग्री सजाए। जल, अक्षत, चंदन, फूल, दूर्वा तथा मदार एवं बेर के सात-सात पत्ते-ये अर्घ्य की सामग्रियाँ हैं।

सप्तसप्तिवह प्रीत सप्तलोकप्रदीपन।
सप्तम्या सहितो देव गृहाणार्घ्यं दिवाकर।।

-इसको पढ़कर भगवान सूर्य को अर्घ्य दे। फिर सप्तमी को भी अर्घ्य दे। मंत्र यह है-

जननी सर्वलोकानां सप्तमी सप्तसप्तिके।
सप्तव्याहृतिके देवि नमस्ते सूर्यमण्डले।।

इस भानुसप्तमी के दिन तालक-दान करने का विधान है। उस दिन अपने नित्य के नियम को पूरा करने के पश्चात चंदन से एक आठ दलवाला कमल बनाये। कमल के उन दलों पर पूर्व के क्रम से शिव-शिवा, रवि, भानु, वैवस्वत, भास्कर, सहस्र-किरण और सर्वात्मा-इनकी स्थापना और पूजाकर ताँबे के पात्र में तालक को रख दे। इस तालक में सोने का कुंडल, घृत, गुड़ और तिल रखना चाहिए। उसे लाल वस्त्र से ढँककर चंदन एवं फूल आदि से उसकी पूजा की जाए। इसके बाद-चंदन एवं फूल आदि से उसकी पूजा की जाय। इसके बाद-

आदित्यस्य प्रसादे : प्रातःस्नानफलेन च।
दुष्टदुर्भाग्यदुःखघ्नं मया दत्तं तु तालकम्।।

-इस श्लोक को पढ़कर उसे ब्राह्मण को दान कर दे। तदनन्तर भानुसप्तमी के निमित्त प्रातःकाल स्नान आदि से निवृत्त हो जाने के पश्चात यदि समीप में भगवान सूर्य का कोई मंदिर हो तो वहाँ जाए। मूर्ति के सामने बैठकर पूजा करने की विधि है अथवा मंदिर न हो तो एक अष्टदल कमल पर भगवान सूर्य की सुवर्णमयी मूर्ति स्थापित करके यह संकल्प पढ़े-('देशकाल का' संकीर्तन करके) '**अमुक नामधेयोऽहं ममाखिलकामनासिद्धार्थं श्रीसूर्यनारायणप्रीतये च श्रीसूर्यपूजनं करिष्ये।**'-इस प्रकार संकल्प करके '**ॐ सूर्याय नमः**' से अथवा पुरुषसूक्त में कहे हुए मंत्रों से षोडशोपचार पूजा करनी चाहिए। खीर, मालपुआ, दाल, भात और दही आदि का नैवेद्य भोग लगावे। सामयिक फल और फूल उपयोग में लेना आवश्यक है। रथ सजाकर उसमें भगवान सूर्य को पधरावे और गाना-बजाना के साथ भगवान की शोभायात्रा निकाले। इस शोभायात्रा में सभी परिवार वाले सम्मिलित हों। पूरे नगर में परिभ्रमण करके पुनः भगवान सूर्य को यथास्थान पर विराजमान कर दे। ब्राह्मणों को खीर आदि भोजन कराने क पश्चात् सूर्यास्त से पूर्व स्वयं भोजन करे। उस दिन भोजन में तेल और लवण नहीं लेना चाहिए। एक ही बार भोजन करे।

इस प्रकार यह व्रत करे तो सूर्य-ग्रहण आदि में किए गए महादानादि के समान अक्षय पुण्य प्राप्त होता है।

फाल्गुनमासीय अर्कपुटसप्तमी-व्रत (भविष्यपुराण)

फाल्गुन शुक्ल सप्तमी को प्रातःकाल स्नानादि के पश्चात् '**ॐ खखोल्काय नमः**'-इस मंत्र से सूर्यनारायण का पूजन करे। इसके पहले दिन षष्ठी को एक भुक्त तथा उस दिन (सप्तमी को) निराहार और

अष्टमी को अर्कपत्र (आक के पत्तों) का प्राशन करे तो संपूर्ण व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चैत्रमासीय व्रत

(क) आरोग्य-व्रत

यह व्रत चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को किया जाता है। इसके निमित्त पहले दिन एक भक्त आदि के नियमों से संयत होकर प्रतिपदा को एक शुद्ध चौकी पर अनेक प्रकार के कमल के फूल बिछाकर उनमें सूर्य का ध्यान करे। श्वेत वर्ण के सुगंधित गंध-पुष्पादि से उनका पूजन तथा दही, चीनी, घी, पूए, दूध, भात और फल आदि अर्पण करे। वंह्नि और ब्राह्मण को तृप्त करे। फिर संपूर्ण सामग्री का एक-एक ग्रास भक्षण करे और शोष को त्याग दे। उसके बाद ब्राह्मण की आज्ञा लेकर भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक मास की शुक्ल प्रतिपदा को वर्षपर्यन्त व्रत और शिव का दर्शन करनेवाला सदैव आरोग्य रह सकता है। (विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

(ख) सूर्यव्रत

यह व्रत चैत्र शुक्ल सप्तमी को किया जाता है। इसके लिए एकांत स्थान में गृह को लीप-धोकर स्थान को स्वच्छ करे और उसके मध्य में एक सुंदर वेदी बनाकर उस पर अष्टदल कमल का चित्र बनाये। कमल के प्रत्येक दल में निम्नलिखित मूर्तियों को स्थापित करे। पूर्व की दिशा में कमलदल पर ऋतुकारक दो 'गंधर्व', अग्निकोण के कमलदल पर ऋतुकारक दो 'गंधर्व', दक्षिण दिशा के कमलदल पर दो 'अप्सराएँ', नैर्ऋत्यकोण के कमलदल पर दो 'राक्षस', पश्चिम दिशा के कमलदल पर ऋतुकारक दो 'महानाग', वायव्यकोण के कमलदल पर दो 'यातुधान', उत्तरदिशा के कमलदल पर दो 'ऋषि' और ईशानकोण के कमलदल पर (सूर्य), एवं 'ग्रह' का स्थापन करके उन सबका यथाक्रम पृथक्-पृथक् गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य से पंचोपचारपूजन करके सूर्य के निमित्त घी की एक सौ आठ आहुतियाँ और अन्य सबके निमित्त आठ-आठ आहुतियाँ दे तथा प्रत्येक के निमित्त एक-एक ब्राह्मण को

भोजन कराये। इस प्रकार शु ल्ल पक्ष की प्रत्येक सप्तमी को एक वर्ष तक व्रत करनेवाले सूर्यलोक की प्राप्ति होती है।

वैशाखमासीय व्रत

कमलसप्तमी

यह व्रत वैशाख शुक्ल सप्तमी को किया जाता है। इस व्रत के लिए सुवर्ण का कमल और सूर्य की मूर्ति बनवाकर वैशाख शुक्ल सप्तमी को एक शुद्ध वेदी पर कमल और कमल पर सूर्य की मूर्ति स्थापित करे एवं उनका यथाविधि पूजन करके-

नमस्ते पद्महस्ताय नमस्ते विश्वधारिणे।
दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोस्तु ते।।

इस श्लोक से प्रार्थना करके सूर्यास्त के समय एक जल का घड़ा, एक गौ और उक्त कमल आदि ब्राह्मणों को दान करे तथा दूसरे दिन उनको भोजन कराकर स्वयं भोजन करे। इस प्रकार प्रत्येक शुक्ल सप्तमी को एक वर्ष करें तो सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है। (पद्मपुराण)

ज्येष्ठमासीय व्रत

करवीरव्रत

ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा को देवता के बगीचे में जाकर कनेर के वृक्ष का पूजन करे। उसको मूल और शाख-प्रशाखाओं के सहित स्नान कराकर लाल वस्त्र ओढ़ावे। गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य आदि से उसका पूजन करे। उसके समीप सप्तधान्य रखकर उस पर केले, नारंगी, बिजौरा और गुणक (गुड़) आदि स्थापित करे और-

'करवीर विषावास नमस्ते भानुवल्लभ।
मौलिमंडन दुर्गादिदेवानां सततं प्रिय।'

इस मंत्र से अथवा '**आकृष्णेन रजसा वर्तमानो.**'-इत्यादि मंत्र से प्रार्थना करके पूजा-सामग्री ब्राह्मण को दे दे। फिर घर जाकर व्रत करे। यह व्रत सूर्य की आराधना का है। आपदग्रस्त अवस्था में स्त्रियों को तत्काल फल देता है। प्राचीनकाल में सावित्री, सरस्वती, सत्यभामा और दमयन्ती आदि ने इसी व्रत से अभीष्ट फल प्राप्त किया था। (भविष्योत्तरपुराण)

आषाढ़मासीय व्रत

विवस्वान्व्रत

आषाढ़ शुक्ल सप्तमी को भगवान् सूर्य 'विवस्वान्' नाम से विख्यात हुए थे। अतः इस दिन रथ के चक्र के समान सुंदर गोल मंडल बनाकर उसमें भगवान् विवस्वान् का गंध-पुष्प आदि से विधिपूर्वक पूजन करे और अनेक प्रकार के भक्ष्य-भोज्य एवं पेय पदार्थ अर्पित करके व्रत करे। (ब्रह्मपुराण)

श्रावणमासीय व्रत

पापनाशिनी सप्तमी

यह व्रत श्रावण शुक्ल सप्तमी को किया जाता है। इस व्रत में श्रावण शुक्ल सप्तमी को हस्त नक्षत्र होने से यह उदयव्यापिनी ग्राह्य है। उस दिन जगद्गुरु चित्रभानु का पूजन करके दान, पुण्य, हवन और व्रत करे तो उसका अक्षय फल प्राप्त होता है और प्रत्येक प्रकार के पाप दूर हो जाते हैं। (हेमाद्रि)

भाद्रपदमासीय व्रत

सूर्यषष्ठी

सप्तमी से प्रयुक्त भाद्रपद शुक्ल षष्ठी को स्नान, दान, जप और सूर्य का व्रत करने से अक्षय फल होता है। विशेषकर सूर्य का पूजन, गंगा का दर्शन और पंचगव्य-प्राशन से अश्वमेध के समान फल होता है। पूजा में गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य मुख्य हैं। (भविष्योत्तरपुराण)

।।अथ व्रत महात्म्य लिखतै।।
कार्तिक मास प्रथम जो रहई।
तीन पत्र तुलसी दल षाई।।
मगर मास ध्यान जु धरई।
सुकर चाटो भोजन करई।।
पुष मास प्राणी तर हुई। तीन उवकी भोजन करई।।

आगे उमा शिव से पूछने लगी कि "हे प्रभु! वह उपाय बताएँ जिससे सूरज देव का दर्शन प्रतिदिन होता रहे। वह कौन सा व्रत है जिसे पालन कर मोक्ष पाया जा सकता है।"

शिवजी ने कहा-"कार्तिक मास में बेल पत्र व तुलसी पत्र से उनकी पूजा होनी चाहिए। मार्गशीष में उनका ध्यान धरें तथा गंगा के किनारे ब्राह्मणों को भोजन कराएँ।

माघ मास के सुनो विचारा। तिल खंड के करे अहारा।
फागुण मास जुइह विधि रहई। दही खंड की डीग होई रहई।।
चैत्र मास के सुनो विचारा। तीन अंजली जल करे अहारा।।

माघ महीने में तिल सहित भोजन करें। फागुन के महीने में खीर व दही का भोजन करें। चैत्र-महीने में तीन-अंजुली जल का पान करें; या तीनों समय एक-एक अंजुरी जल का सीमित आहार करें।

वैशाख मास जू ध्यान धरई। घृत पकान अहार करई।।
ज्येष्ट मास जो प्राणी रहई। तांबूल मिंष्टान अहार करई।।
आषाढ मास जो प्राणी रहई। तीन मिरच भोजन करई।।
सावन मास के इहू व्यवहारा। कपिल गवो का मूत्र करे अहारा।।

वैशाख के महीने में सूरज देव का ध्यान कर घी से पकवान करें व भोजन करें। ज्येष्ठ के महीने में पान व मिठाई का भोजन करें। आषाढ़ के महीने में मनुष्य को तीन काली-मिर्च के साथ भोजन करना चाहिए। सावन के महीने में गोमूत्र का पान करें।

भादो मास जो इह विधि रहई। गुड खंड के भोजन करई।।
कू वार मास के करहू व्यवहारा। चंदन खंड के करे व्यवहारा।

इति श्री सूरज महात्म्ये महापुराणे व्रत महात्म्य संपूर्ण समाप्तं।

भाद्रमास में गुड़ के साथ भोजन करें। मनुष्य को चाहिए कि बारह महीने तक चंदन का लेपन अपने शरीर पर करें। इस प्रकार के नियम पूर्वक व्यवहार करने पर सूरज देव की कृपा की प्राप्ति होती है।

सूरज-महापुराण का **व्रत-महात्म्य** यहीं समाप्त होता है।

* * *

उपसंहार

हम सब जन्म से ही सूर्य का दर्शन करते हैं। वैदिक तैंतीस देवताओं में वे सर्वप्रसिद्ध देवता माने जाते हैं। विद्वानों की मान्यता है कि काल का नियमन चंद्र और सूर्य दोनों के द्वारा होता है। सूर्य दिन के स्वामी तथा चंद्रमा रात्रि, तिथि व नक्षत्रों के स्वामी हैं। सूर्य की द्वादश कलाए हैं, जिनसे सौर पथ के बारह मास निर्मित होते हैं तथा चंद्रमा की षोडश कलाएँ हैं क्योंकि सोलह तिथियाँ हैं।

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्चा'-संपूर्ण चराचर जगत की आत्मा सूर्य है। आध्यात्मिक पक्ष में जिसे साधनामार्ग में परालिंग कहते हैं, शिव का सर्वोत्कृष्ट रूप है। इसमें शिव और विष्णु का अभेद रूप है। इसी को उपनिषदों तथा पुराणों में विष्णु का परम पद कहा है-'तद् विष्णोः परमं पदम्।'

जब वही परमतत्व भक्तों की रक्षा, धर्म की स्थापना और दुष्टों के दमन हेतु चंद्रमंडल से आविर्भूत होता है, तब उसे कृष्णचंद्र व सूर्यमंडल से प्रकट होनेवाला यही परम तत्व रामचंद्र है। तंत्रसाधना में माना जाता है कि चंद्रमंडल से परमतत्व आनंद-भैरव व सूर्यमंडल से सप्त-भैरव प्रकट होते हैं।

महात्मा तुलसीदास ने रामायण में राम व शिव का अभेद संबंध प्रतिपादित किया है। अग्नि, चंद्र व सूर्य यही त्रिबिंदु प्रत्येक तत्व एवं पदार्थ में विद्यमान है जिनका एकत्र स्मरण ही परमब्रह्म रूप गुरु का स्मरण है। चंद्रबिंदु से श्रीकृष्ण, सूर्यबिंदु से श्रीराम व अग्निबिंदु से श्री परशुराम-अवतार माने गए हैं। शब्द ब्रह्म का आविर्भाव भी इन तीनों मंडलों से हुआ है। चंद्रमंडल से षोडश-स्वर, सूर्यमंडल से चौबीस व्यंजन तथा अग्निमंडल से आठ वर्ण आविर्भाव हुए हैं। म-वर्ण बिंदु स्थानीय है। इसी शब्द ब्रह्म से समस्त व्यावहारिक ज्ञान होता है।

'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' मानसिक और बाह्य दोनों रोगों की निवृत्ति सूर्य की उपासना से होती है। प्रस्तुत ग्रंथ सूरज-पुराण में अनेक कथाओं के माध्यम से सूर्य की दुःख-कष्ट निवारक रूप का चित्रण हुआ है। प्रसिद्ध 'सूर्यशतक' के रचयिता मयूर कवि ने भी कुष्ठरोग के

निवारणार्थ सूर्य की आराधना करते हुए 'सूर्य शतक की रचना कर अपने को कुष्ठ रोग से निर्मुक्त किया था।

भारत में सूर्य की उपासना बहुत काल पूर्व से प्रचलित थी। खेद का विषय है कि अधिकतर सूर्य मंदिर मुस्लिम शासन काल में नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए। मुल्तान का सूर्य मंदिर, कश्मीर के पर्वत पर मार्तण्ड-मंदिर, चित्तौड़गढ़ की कालिका जी के मंदिर, मोधेरा (गुजरात) का सूर्य मंदिर व कोणार्क (उड़ीसा) का सूर्य मंदिर पृथ्वी भर में एक आश्चर्य जनक कृति है।

सूर्य-प्रतिमाओं के भी अनेक रूप मिलते हैं-

उत्तर भारतीय ग्रंथों में सूर्य-प्रतिमा के जो लक्षण दिखाई देते हैं वे रोचक हैं। बृहत्संहिता में सूर्य-प्रतिमा का प्राचीनतम विवरण मिलता है। सूर्यदेव कुंडल, हार तथा मुकुट से सुशोभित उद्दीच्यवेश एवं कंचुक धारण किये हुए हैं, पैरों से वक्ष तक चोलक से ढकी हुई मूर्ति के हाथों में कमल हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में सूर्य-प्रतिमा का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इस ग्रंथ के अनुसार सिंदूरी प्रभामंडल, सभी आभूषणों से अलंकृत, श्मश्रु-कवचधारी सूर्य उद्दीच्यवेष में अपने दोनों हाथों में पुष्प के रूप में दो रासें धारण किये हों। दोनों पाश्वों में खेटक तथा पिंगल-दण्ड तथा लेखनीयुक्त चित्रित हों। उनके सिरों पर सूर्य के दो शेष हाथ हों तथा बाएँ भाग में सिंहांकित ध्वज हो। पास में चारों पत्नियाँ (राज्ञी, निक्षुभा, छाया, सुवर्चसा) तथा चार पुत्र-रेवंत, यम तथा दो मनु हों।

विश्वकर्मशील के अनुसार सूर्य की प्रतिमा ऐसी बनायी जानी चाहिए कि उनके रथ में एक चक्र, सात घोड़े, एक सारथी, वृक्ष में कंचुक और कवच, दोनों हाथों में कमल हो। दाहिने-बायें पार्श्व में निक्षुभा तथा राज्ञी हों। साथ में दंड और पिंगल द्वारपाल हों, जो खडगधारी अथवा शंखधारी हों।

मत्स्यपुराण में भी सूर्य के एक चक्र और सात अश्वों वाले रथ का उल्लेख मिलता है। इनमें सारथि अरुण है। स्कंधों तक भुजाओं में कमल हों। शरीर चोलक से आच्छादित हो। किंतु इसमें दोनों और पिंगल का उल्लेख है, लेकिन पत्नियों का नहीं।

दक्षिण भारत के ग्रंथों में सूर्य प्रतिमा के लक्षण भिन्न हैं। अंशुमदागम और सुप्रभेदागम के अनुसार सूर्य की दो भुजाएँ हों। कमल धारण किये हों, उनका मस्तक कान्तिमण्डल से घिरा हो और शरीर कटक-मुकुट, यज्ञोपवीत तथा मणि-कुंडल से सुशोभित हो, शरीर पर उत्तरीय वस्त्र हो। पद्मपीठ पर सात घोड़ों वाला रथ हो, पंगु अरुण सारथी हो, दोनों ओर देवियाँ-उनकी पत्नियाँ हों। पूर्व कारणकागम के अनुसार सूर्य का वामांग श्यामवर्ण नारी के रूप में चित्रित हो। शिल्परत्नानुसार सूर्य के दोनों ओर दण्ड तथा पिंगल नामक द्वारपाल हो।

उत्तर तथा दक्षिण भारत में सूर्यप्रतिमाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है। गोपीनाथ राव ने कुछ भेदों को स्पष्ट किया है, जिसका समर्थन डॉक्टर जितेंद्रनाथ बनर्जी ने भी किया है।

उत्तरी भारत में मूर्तियों के हाथ सामान्यतः कमर के पास होते हैं। उनमें स्कंधों तक पहुँचे पूर्ण विकसित सनाल पद्म हैं, जब कि दक्षिण भारत की मूर्तियों के हाथ कंधों तक उठे हुए हैं, जिनमें अर्द्धविकसित पद्म हैं। उत्तर भारत की मूर्तियाँ पैरों में मोजे तथा बूट-जैसा परिधान पहने हुए आच्छन्नपाद हैं। दक्षिण भारत में पैर नग्न हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में उदरबंद दृष्टिगोचर होते हैं, जब कि उत्तर भारत में कवच धारण किये हुए हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में सात घोड़े और सारथि अरुण कम दिखायी देते हैं, किंतु उत्तर भारत में अधिक हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में दंड, पिंगल, देवियाँ तथा अनुचर-अनुचरियाँ नहीं दिखायी देतीं। उत्तर भारत की मूर्तियों में ये सभी दृष्टिगोचर हैं।

भारत के कोने-कोने में विभिन्न कालों की निर्मित सूर्य की प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ प्रतिमाएँ अद्‌भुत एवं विलक्षण हैं। उनकी सुंदरता देखते ही बनती है। इन विलक्षण प्रतिमाओं में खजुराहो-संग्रहालय में सूर्य की प्रतिमा पूर्वमध्ययुगीन है। एक मूर्ति बड़ी विलक्षण है, जिसमें सूर्य देव पद्मपीठ पर सीधे खड़े हैं। उनके दोनों हाथ खंडित हैं। अनुमानतः उनमें पूर्ण विकसित कमल रहे होंगे। सभी आभूषणों से अलंकृत हैं। वक्ष में कवच और पैरों में ऊँचे जूते पहने हुए हैं। दोनों ओर राज्ञी व निक्षुभा देवियाँ हैं, जिनके एक-एक हाथ में चँवर है

तथा दूसरा हाथ कमर पर है। देवियों के पास दण्ड-पिंगल दो द्वारपाल खड़े हैं। पिंगल लेखनी और पत्र लिए है और दण्ड शस्त्रधारी है। सूर्यप्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण सप्ताश्व और सारथि अरुण विशेष दर्शनीय हैं। प्रतिमा में धनुर्धारी ऊषा और प्रत्यूषा भी चित्रित हैं।

चितौड़गढ़ की आसनमूर्ति की सजावट का विवरण श्रीगोपीनाथ राव ने दिया है। सूर्य दोनों हाथों में पूर्ण विकसित कमल लिये हुए हैं। सप्ताश्व तथा अरुण आदि प्रदर्शित हैं। राजपूताना (अजमेर-) संग्रहालय में सूर्य की एक प्रतिमा है, जिनके हाथों में स्कन्धों तक पूर्ण विकसित कमल है। पार्श्व में दण्ड, पिंगल, राज्ञी एवं निक्षुभा हैं। सप्ताश्व और अरुण भी चित्रित हैं।

दक्षिण भारत में निर्मित सूर्यप्रतिमाएँ विशेष दर्शनीय हैं। सूर्यदेव सस्पष्ट अनेक आभूषणों से अलंकृत खड़े हैं। उनके हाथ कमर के पास पद्म धारण किये हैं। स्कन्धों तक उठे हैं। पैर नग्न हैं। धनुर्धारिणी ऊषा-प्रत्यूषा, दंड-पिंगल, सप्ताश्व, अरुण आदि तथा पार्श्व में चक्र प्रदर्शित हैं। इस प्रकार की मूर्ति हवेरी में भी मिली है। गुड्डीमल्लम के परशुरामेश्वर मंदिर में सूर्यदेव सभंग खड़े हैं। हाथों में अर्द्धविकसित कमल है। मूर्ति की कमर में पर्याप्त चौड़ी मेखला है। पैर नग्न हैं। इसके अतिरिक्त भी भारत के अनेक स्थलों में सूर्य की प्रतिमाएँ मिली हैं। आसुतोष-संग्रहालय, मथुरा-संग्रहालय, गांधार और दिनाजपुर में भी सूर्य की प्रतिमाएँ द्रष्टव्य हैं। उड़ीसा में भी नवग्रह-चक्र में सूर्य विद्यमान हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार से स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक अखिल स्थापत्य एवं मूर्तिकलाओं में सूर्य का अपना विशिष्ट स्थान है।

मनुष्य में चेतनता पेड़-पौधों में हरीतिमा सूर्य से ही है। यदि उन्हें पर्याप्त प्रकाश न मिले तो पत्तियों का रंग पीला पड़ने लगता है; पेड़-पौधे मुरझाने लगते हैं। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से अनेक रोग दूर होते हैं। रिकेट्स और क्षयरोग-जैसी बीमारियाँ प्रातःकालीन धूप के सेवन से दूर होती हैं। सूर्य की किरणों के सात रंग ही सूर्य के सात अश्व हैं। इसलिए सूर्य का एक नाम सप्ताश्व भी है। विभिन्न रंगों की बोतलों में जल भरकर सूर्य के प्रकाश में रखने से उस जल में रोगों को नष्ट करने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार चिकित्सा करने की प्रणाली

दक्षिण भारत के ग्रंथों में सूर्य प्रतिमा के लक्षण भिन्न हैं। अशभदागम और सुप्रभदागम के अनुसार सूर्य की दो भुजाएँ हों। कमल धारण किये हों, उनका मस्तक कान्तिमण्डल से घिरा हो और शरीर कटक-मुकुट, यज्ञोपवीत तथा मणि-कुंडल से सुशोभित हो, शरीर पर उत्तरीय वस्त्र हो। पद्मपीठ पर सात घोड़ों वाला रथ हो, पंगु अरुण सारथी हो, दोनों ओर देवियाँ-उनकी पत्नियाँ हों। पूर्व कारणकागम के अनुसार सूर्य का वामांग श्यामवर्ण नारी के रूप में चित्रित हो। शिल्परत्नानुसार सूर्य के दोनों ओर दण्ड तथा पिंगल नामक द्वारपाल हो।

उत्तर तथा दक्षिण भारत में सूर्यप्रतिमाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है। गोपीनाथ राव ने कुछ भेदों को स्पष्ट किया है, जिसका समर्थन डॉक्टर जितेंद्रनाथ बनर्जी ने भी किया है।

उत्तरी भारत में मूर्तियों के हाथ सामान्यतः कमर के पास होते हैं। उनमें स्कंधों तक पहुँचे पूर्ण विकसित सनाल पद्म हैं, जब कि दक्षिण भारत की मूर्तियों के हाथ कंधों तक उठे हुए हैं, जिनमें अर्द्धविकसित पद्म हैं। उत्तर भारत की मूर्तियाँ पैरों में मोजे तथा बूट-जैसा परिधान पहने हुए आच्छन्नपाद हैं। दक्षिण भारत में पैर नग्न हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में उदरबंद दृष्टिगोचर होते हैं, जब कि उत्तर भारत में कवच धारण किये हुए हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में सात घोड़े और सारथि अरुण कम दिखायी देते हैं, किंतु उत्तर भारत में अधिक हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में दंड, पिंगल, देवियाँ तथा अनुचर-अनुचरियाँ नहीं दिखायी देतीं। उत्तर भारत की मूर्तियों में ये सभी दृष्टिगोचर हैं।

भारत के कोने-कोने में विभिन्न कालों की निर्मित सूर्य की प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ प्रतिमाएँ अद्भुत एवं विलक्षण हैं। उनकी सुंदरता देखते ही बनती है। इन विलक्षण प्रतिमाओं में खजुराहो-संग्रहालय में सूर्य की प्रतिमा पूर्वमध्ययुगीन है। एक मूर्ति बड़ी विलक्षण है, जिसमें सूर्य देव पद्मपीठ पर सीधे खड़े हैं। उनके दोनों हाथ खंडित हैं। अनुमानतः उनमें पूर्ण विकसित कमल रहे होंगे। सभी आभूषणों से अलंकृत हैं। वक्ष में कवच और पैरों में ऊँचे जूते पहने हुए हैं। दोनों ओर राज्ञी व निक्षुभा देवियाँ हैं, जिनके एक-एक हाथ में चँवर है

तथा दूसरा हाथ कमर पर है। देवियों के पास दण्ड-पिंगल दो द्वारपाल खड़े हैं। पिंगल लेखनी और पत्र लिए है और दण्ड शस्त्रधारी है। सूर्यप्रतिमा के पादपीठ पर उत्कीर्ण सप्ताश्व और सारथि अरुण विशेष दर्शनीय हैं। प्रतिमा में धनुर्धारी ऊषा और प्रत्यूषा भी चित्रित हैं।

चितौड़गढ़ की आसनमूर्ति की सजावट का विवरण श्रीगोपीनाथ राव ने दिया है। सूर्य दोनों हाथों में पूर्ण विकसित कमल लिये हुए हैं। सप्ताश्व तथा अरुण आदि प्रदर्शित हैं। राजपूताना (अजमेर-) संग्रहालय में सूर्य की एक प्रतिमा है, जिनके हाथों में स्कन्धों तक पूर्ण विकसित कमल है। पार्श्व में दण्ड, पिंगल, राज्ञी एवं निक्षुभा हैं। सप्ताश्व और अरुण भी चित्रित हैं।

दक्षिण भारत में निर्मित सूर्यप्रतिमाएँ विशेष दर्शनीय हैं। सूर्यदेव सस्पष्ट अनेक आभूषणों से अलंकृत खड़े हैं। उनके हाथ कमर के पास पद्म धारण किये हैं। स्कन्धों तक उठे हैं। पैर नग्न हैं। धनुर्धारिणी ऊषा-प्रत्यूषा, दंड-पिंगल, सप्ताश्व, अरुण आदि तथा पार्श्व में चक्र प्रदर्शित हैं। इस प्रकार की मूर्ति हवेरी में भी मिली है। गुड्डीमल्लम के परशुरामेश्वर मंदिर में सूर्यदेव सभंग खड़े हैं। हाथों में अर्द्धविकसित कमल है। मूर्ति की कमर में पर्याप्त चौड़ी मेखला है। पैर नग्न हैं। इसके अतिरिक्त भी भारत के अनेक स्थलों में सूर्य की प्रतिमाएँ मिली हैं। आसुतोष-संग्रहालय, मथुरा-संग्रहालय, गांधार और दिनाजपुर में भी सूर्य की प्रतिमाएँ द्रष्टव्य हैं। उड़ीसा में भी नवग्रह-चक्र में सूर्य विद्यमान हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार से स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक अखिल स्थापत्य एवं मूर्तिकलाओं में सूर्य का अपना विशिष्ट स्थान है।

मनुष्य में चेतनता पेड़-पौधों में हरीतिमा सूर्य से ही है। यदि उन्हें पर्याप्त प्रकाश न मिले तो पत्तियों का रंग पीला पड़ने लगता है; पेड़-पौधे मुरझाने लगते हैं। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से अनेक रोग दूर होते हैं। रिकेट्स और क्षयरोग-जैसी बीमारियाँ प्रातःकालीन धूप के सेवन से दूर होती हैं। सूर्य की किरणों के सात रंग ही सूर्य के सात अश्व हैं। इसलिए सूर्य का एक नाम सप्ताश्व भी है। विभिन्न रंगों की बोतलों में जल भरकर सूर्य के प्रकाश में रखने से उस जल में रोगों को नष्ट करने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार चिकित्सा करने की प्रणाली

को सूर्य-किरण-चिकित्सा का नाम दिया गया है। यह प्रणाली एलोपैथी, होम्योपैथी, एक्यूपंक्चर आदि चिकित्सा-प्रणालियों से कम सफल नहीं हैं। हिंदी भाषा में इस विषय पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। प्रातःकाल सूर्याभिमुख होकर एक विशेष प्रकार से जो व्यायाम से शरीर स्वस्थ रहने के साथ ही रोगों के आक्रमण की संभावना नहीं रहती। मध्यप्रदेश तथा अन्य कुछ राज्यों में बालकों से पी.टी.के स्थान पर सूर्य-नमस्कार का अभ्यास कराया जाता है। यह अच्छी योजना है; अन्य प्रदेशों में भी इसका अनुसरण होना चाहिए।

कुष्ठ-जैसे भयंकर रोग की सफल चिकित्सा विज्ञान अब तक नहीं खोज सका है। सूर्य भगवान की आराधना से अनेक कुष्ठरोगी स्वस्थ होते देखे गये हैं। भारत में बहुत-से स्थानों पर सूर्योपासना के लिए बालार्क (बालादित्य) के मंदिर बने हैं, जहाँ प्रतिवर्ष हजारों चर्मरोगी स्वास्थ्य-लाभ के लिए जाते हैं। दतिया जिले के उनाव नामक स्थान पर बालाजी का भारत प्रसिद्ध मंदिर है, जहाँ असाध्य कुष्ठ के रोगियों को चामत्कारिक रूप से स्वास्थ्य-लाभ होता है।

प्रातःकाल स्नान कर सूर्यभगवान को अर्घ्य देने का विधान है। यदि आप किसी जलाशय में स्नान करते हैं तो जल में खड़े होकर ही अर्घ्य देते हैं। सूर्य के सम्मुख खड़े होकर अर्घ्य देने से जल की धारा के अंतराल से सूर्य की किरणों का जो प्रभाव शरीर पर पड़ता है, उससे शरीर में स्थित रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं और शरीर में अज्ञात रूप से ऊर्जा का संचार होता है। प्राकृतिक चिकित्सा के साथ रंगीय काँच के द्वारा सूर्यकिरणों की प्रभा से रोगी का उपचार किया जाता है।

इस प्रकार बहुसंख्यक रोगों के होने में सूर्य का कोप प्रधान कारण होता है। इसी सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए शास्त्रों में अर्घ्यदान और त्रिकाल-संध्या का दैनिक विधान किया गया है। साथ ही ग्रहजनित व्याधि की शांति के लिए ओषधिमिश्रित जल से स्नान और रत्नधारण भी निर्दिष्ट किया जाता है। सूर्य-किरणों के विद्रुमवर्ण होने से सूर्य प्रसादन के लिए उसका धारण करना बताया गया है। सूर्यकिरणों के लिए अधिक संवेदनशील होने से यह रत्न शरीर पर सूर्यकिरण का तत्काल प्रभाव छोड़ता है। निम्नलिखित औषधियों से मिश्रित जल से स्नान करना भी

बताया गया है-

मैनसिल, छोटी इलायची, देवदारु, कुंकुम, खश, मुलहठी, मधु और लाल चंदन। हस्तादित्य योग में सूर्याथर्वशीर्ष, आदित्यहृदयस्तोत्र का पाठ और नेत्ररोगों में नेत्रोपनिषद का पाठ करना बताया गया है। रोगोपशमन के लिए व्रत, पूजा-पाठ, सूर्यनमस्कार और औषधोपचार विहित हैं।

जिस प्रकार सूर्यकिरणों से आकृष्ट जल पृथ्वी पर जीवनदायी है, उसी प्रकार सूर्यकिरणों से आप्यायित होकर हमारा मन और शरीर नवीन स्फूर्ति पाता है। आज विज्ञान की वर्तमान प्रगति से दैनिक ईंधन, विद्युत और क्षुधाशांति के लिए सौर-ऊर्जा का प्रयोग संभव हुआ है। अन्य दिशाओं में तेज़ी से काम हो रहा है। इस भौतिक उपलब्धि से संसार का अत्यधिक कल्याण संभावित है। भगवान भास्कर सर्वथा उपास्य हैं।

* * *

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) अथर्ववेद
2) आदित्य पुराण
3) आदित्य हृदय
4) ऋग्वेद
5) ऋग्वेदिक इंडिया-अविनाशचंद्र दास
6) कल्कि पुराण, सूर्य पुराण व नृसिंह पुराण-प्र.न.जोशी
7) कल्याण-सूर्यांक-गीता प्रेस, गोरखपुर
8) कूर्म पुराण
9) देवी भागवत
10) पुराण विमर्श-बलदेव उपाध्याय
11) बृहद हिंदी कोश, 1292
12) मार्कण्डेय पुराण
13) यजुर्वेद
14) वाराह पुराण
15) विनय पत्रिका-गोस्वामी तुलसीदास
16) विष्णु पुराण
17) वैदिक संस्कृति द्रिगस्पर्श-आचार्य चतुर्सेन
18) वैदिक देव शास्त्र-डॉ.सूर्यकांत
19) शिव पुराण-गीता प्रेस, गोरखपुर
20) श्रीमद् भागवत-सं.डॉ.चमनलाल गौतम
21) सूर्य पुराण-सं.ज्वाला प्रसाद चतुर्वेदी
22) सूर्योपनिषद
23) हिंदी ऋग्वेद-इंडियन प्रेस पब्लिकेशन्स लिमिटेड

SURAJ PURAN

Edited by

Dr. Sheela Misra

A.P. Govt. Oriental Manuscripts Library
and Research Institute